पण्डित रतनचन्द जी भारिल्ल दिगम्बर जैन समाज के मूर्धन्य विद्वानों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं !

अगहन कृष्णा अष्टमी वी. सं. 1989 तदनुसार, 21 नवम्बर, 1932 ई. को ललितपुर (उ.प्र.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम के एक धार्मिक परिवार में जन्में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल स्वर्गीय श्री हरदास जी भारिल्ल के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आप शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न तथा एम.ए., बी.एड. शिक्षा प्राप्त हैं।

सिद्धहस्त तथा लोकप्रिय लेखक होने के साथ-साथ आप एक सफल पत्रकार भी हैं। जैनपथप्रदर्शक (पाक्षिक) के आप आद्य सम्पादक हैं, जिसका 1977 से नियमित प्रकाशन हो रहा है। आध्यात्मिक तथा तात्विक विषयों को सरल एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत करने की आपकी अद्भुत क्षमता है।

आपकी लगभग 11 मौलिक कृतियाँ हैं जो लाखों की संख्या में जन-जन तक पहुँचकर बिक्री के रिकार्ड तोंड़ चुकी हैं। जैन ही नहीं जैनेतर भी आपके साहित्य से लाभान्वित होते रहे हैं।

निबन्ध शैली में लिखी गई आपकी कृतियाँ शोध शैली में होते हुए भी सरल, सुबोध, सर्वग्राह्य, व्यावहारिक एवं जनोपयोगी हैं। सभी पुस्तकों में नैतिक शिक्षा, आध्यात्मिकज्ञान के साथ-साथ पारिवारिक व सामाजिक समस्याओं के समाधान भी सहज मिल जाते हैं।

उपन्यासों के माध्यम से तत्त्वज्ञान कराने की आपकी शैली मिश्री के माध्यम से दवा पिलाने जैसी है। आपके सभी उपन्यास लोकप्रिय हैं।

सम्प्रति में आप टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के प्राचार्य हैं। आप सफल शिक्षाविद और प्रौढ़ प्रवचनकार भी हैं।

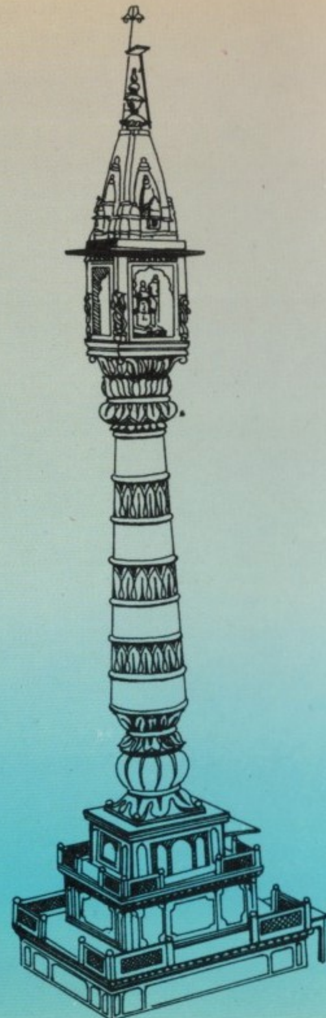

द्रव्यदृष्टि

द्रव्य क्षेत्र काल भाव

-पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

द्रव्यदृष्टि : योगीन्दुदेव और ब्रह्मदेव की दृष्टि में

''यद्यपि देह में स्थित एवं देह से भिन्ना आत्मद्रव्य पर्यायार्थिकनय से उत्पाद-व्यय सहित है; तथापि द्रव्यार्थिकनय से उत्पाद-व्यय रहित है-ऐसा जिनवरदेव ने देखा है''

''शुद्ध निश्चयनय से भगवान आत्मा जन्म-मरण, बन्ध और मोक्ष को नहीं करता। वह तो जैसा है वैसा ही है-ऐसा यहाँ कहा है।''[१]

''योगीन्दुदेव पुनः कहते हैं कि- ''हे योगी! परमभावग्राहकशुद्ध निश्चयनय से विचारा जाय तो यह जीव न तो उत्पन्ना होता है, न मरता है और न बन्ध-मोक्ष को करता है। यह तो बन्ध-मोक्ष से रहित है।''

ब्रह्मदेव इसी गाथा की टीका में कहते है।- ''यद्यपि यह शुद्धात्मानुभूति के अभाव के कारण शुभाशुभ उपयोग से परिणमन करके जीवन-मरण एवं शुभाशुभ कर्मबन्ध करता है तो भी शुद्धपारिणामिक-परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से न बन्ध का कर्त्ता है और न मोक्ष का कर्त्ता है।''[२]

इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत, जीवन-मरण और बंध-मोक्षादि से रहित सामान्य, अखण्ड, नित्य और अभेद (एक) शुद्धात्मा की सत्श्रद्धा, द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत वस्तु का ज्ञान एवं उसी का निर्विकल्प ध्यान ही द्रव्यदृष्टि है? यही दृष्टि का विषय है।

ज्ञातव्य है कि प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। वस्तु के सामान्य-अंश को द्रव्य एवं विशेष-अंश को पर्याय कहते हैं। यही कारण है कि वस्तु के सामान्य-अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान के अंश को पर्यायार्थिक नय कहते है। तथा दोनों अंशें को एकसाथ ग्रहण करनेवाले ज्ञान के अंश को द्रव्यार्थिकनय और विशेष-अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान के अंश को पर्यायार्थिक नय कहते है। तथा दोनों अंशों को एकसाथ ग्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । कहा भी है- ''सामान्य विशेषात्मा तदर्था विषयः''[३]

नोट : इसी संदर्भ में निश्चय-व्यवहार नयों का स्वरूप एवं भेद देखें कवर पृष्ठ ३ पर

१. परमात्मप्रकाश अधि प्रथम, दोहा ४३ एवं टीका, २.वही दोहा ६८ एवं टीका
३. परीक्षामुख चतुर्थ परिच्छेद सूत्र-१

(भगवान महावीर २६ सौ वाँ जन्म-जयन्ती वर्ष)

द्रव्यदृष्टि

(संक्षिप्त, सरल शोध निबन्ध)

लेखक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय

ए-4, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

फोन : (०१४१) ५१५५८१, ५१५४५८

द्रव्यदृष्टि	:	पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
प्रथम दो संस्करण	:	4 हजार
(10 जून 2001 ई.)		
तृतीय संस्करण	:	1 हजार
(26 जनवरी, 2015)		
कुल योग	:	5 हजार

मूल्य : **पाँच रुपये**

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कंप्यूटर्स
ए-४, बापूनगर, जयपुर
फोन : 2705581

मुद्रक :
सन् एन सन प्रेस
तिलकनगर, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1.	श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प. अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	501.00
2.	श्री धीरज सेठ, मुम्बई	301.00
3.	श्रीमती रंजनाबेन आर. दोशी, मुम्बई	301.00
4.	श्री दिनेशभाई जैन, मुम्बई	301.00
5.	श्री शान्तिभाई, मुम्बई	301.00
6.	श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	301.00
	कुल योग	**2006.00**

प्रकाशकीय

(तृतीय संस्करण)

अनेक मौलिक कृतियों के लेखक पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल का नवीनतम लघु निबन्ध, जिसको आपने डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की दृष्टि का विषय कृति के गहन अध्ययन और चिन्तन-मनन करके संक्षिप्त, सरल सारांश के रूप में स्वान्तः सुखाय लिखा है, उसे बहुजनहिताय प्रकाशित करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल सिद्धहस्त लेखक हैं। पूज्य कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित अनेक विषयों का आपने अत्यन्त सरल, सुगम भाषा में गुजराती से हिन्दी अनुवाद किया है। समयसार पर उनके १९वीं बार हुए प्रवचनों को हिन्दी भाषियों के लिए उपलब्ध कराने का सर्वाधिक श्रेय आपको ही है। इनके सिवाय भक्तामर प्रवचन, समाधितंत्र प्रवचन, पदार्थविज्ञान, सम्यग्दर्शन आदि अनेक ग्रन्थों द्वारा भी पूज्य गुरुदेवश्री की चिन्तनधारा की आपने जन-जन तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इसप्रकार अबतक पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों के आधार पर लगभग 5 हजार पृष्ठों का श्रमसाध्य अनुवाद एवं सम्पादन कार्य आपके द्वारा हुआ है।

समयसार ग्रन्थ की छठवीं-सातवीं गाथा के आधार पर हुए अनुशीलन द्वारा इस गूढ़ विषय को सरलतापूर्वक समझने/समझाने का प्रयास इस निबन्ध के माध्यम से किया गया है।

आशा है विज्ञजन इस कृति का सांगोपांग अध्ययन करके अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

ब्र. यशपाल जैन
प्रकाशन मंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-4, बापूनगर, जयपुर (राज.)

1 जनवरी, 2015

अपनी बात

आज के इस अर्थप्रधान युग में जैनजगत के सामने जब सोनगढ़ के सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी ने **द्रव्यदृष्टि** अथवा **दृष्टि के विषय** जैसे महत्त्वपूर्ण विषय का रहस्य-उद्घाटन किया तो तत्त्वप्रेमियों को तो अपार आनन्दानुभूति हुई; परन्तु वास्तविकता से अनजान व्यक्तियों ने मजाक में यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि "सोनगढ़वालों की तो मात्र द्रव्य पर ही दृष्टि रहती है, इस कारण वे लोग तो धनसम्पन्न लोगों को ही सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।"

जबकि वास्तविकता बिल्कुल इससे विपरीत है। वहाँ तत्त्वरुचिसम्पन्न विद्वानों को ही सर्वाधिक सम्मान दिया जाता रहा है। गुरुदेवश्री ने अपने प्रवचनों एवं चर्चा में सेठों को संबोधित करते हुए सदैव यही कहा – 'सेठ ! समझ में आया कुछ ?' उन्होंने कभी सेठ शब्द के साथ 'जी' तक नहीं लगाया; जबकि छोटे से छोटे विद्वान को भी वे सदैव पण्डितजी कहकर ही संबोधित किया करते थे। हजारों कैसिट इसके साक्षी हैं।

धन को तो वे सदैव धूल ही कहा करते थे; फिर भी पता नहीं उनके पास ऐसा क्या जादू था, जो बड़े-बड़े सेठ/श्रीमन्त भी उनके पास खिचें चले जाते थे और दान के नाम पर तो वहाँ मानो सोना बरसता था, रुपयों की बरसात-सी होती थी। संभवत: कुछ लोग तो इन्हीं सब कारणों से वहाँ की प्रशंसा सुन-सुनकर कौतूहल वश ही वहाँ गये और उनमें अनेक तो सच्ची द्रव्यदृष्टि की समझ लेकर ही लौटे। इतना ही नहीं, फिर जबतक भी गुरुदेव का सान्निध्य मिला, बार-बार जाते ही रहे। बस, तत्त्वज्ञान ही उनके पास एक जादू था, जो जिज्ञासुओं के सिर पर चढ़कर बोलता था, उनके आकर्षण का केन्द्र बनता था।

इस युग में यदि सही द्रव्यदृष्टि का ज्ञान किसी ने कराया है तो एकमात्र पूज्य गुरुदेवश्री ने ही कराया है; एतदर्थ उनका जितना उपकार माना जाय, कम है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा **दृष्टि के विषय** का रहस्योद्घाटन होने के बाद यद्यपि अध्यात्मजगत में यह विषय बहुत चर्चित रहा है; इसकारण अध्यात्मरसिकों को इसकी चर्चा नई नहीं है, अपरिचित भी नहीं है; परन्तु आश्चर्य है कि अभीतक भी यह विषय रहस्य ही बना हुआ है।

इस विषय की चर्चा मात्र बौद्धिक व्यायाम नहीं है; बल्कि इसका ऊहापोह इससे अपरिचित और सुपरिचित – सभी आत्मार्थियों के लिए आत्मानुभूति हेतु बहुत उपयोगी है, परम आवश्यक है, अत्यन्त जरूरी है।

पूज्य गुरुदेवश्री के निकटतम शिष्य और मेरे अनुज डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने कुछ दिन पूर्व ही इस विषय पर नौ प्रवचन किए, जो ब्र. यशपालजी द्वारा सम्पादित होकर **दृष्टि का विषय** नाम से प्रकाशित भी हो गये हैं। विस्तृत जानकारी के लिए वह पुस्तक मूलत: पठनीय है। उन्हीं प्रवचनों के आधार पर मैंने स्वान्त: सुखाय यह निबन्ध लिखा है। मुझे विश्वास है कि पाठक इसे भी पढ़कर आशा से अधिक लाभ उठायेंगे।

– रतनचन्द भारिल्ल

समयसार गाथा ६ व ७

(दृष्टि के विषय की संदर्भ-गाथाएँ)

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव॥६॥
ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥७॥

जो एक ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है; इसप्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह तो वही है; अन्य कोई नहीं।

ज्ञानी (आत्मा) के ज्ञान, दर्शन और चारित्र – ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है; ज्ञानी (आत्मा) तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

लेखक के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)(उपन्यास)	६० हजार ५००	३०.००
०२.विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	२ लाख १२ हजार	१५.००
०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	५८ हजार	२०.००
०४. सुखी जीवन (हिन्दी, मराठी) (चतुर्थ संस्करण)	२६ हजार	२०.००
०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	७२ हजार ५००	१०.००
०६. जिनपूजन रहस्य (हि.,म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु.,क.)	७७ हजार २००	१०.००
०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	१० हजार	७.००
०९. बालबोध पाठमाला भाग-१(हि.म.गु.क.त.अं.)	४ लाख १२ हजार २००	३.००
१०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (दो संस्करण हिन्दी)	८ हजार	३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)	३ हजार	४.००
१२. द्रव्यदृष्टि	५ हजार	४.००
१३. हरिवंश कथा (चार संस्करण)	१४ हजार	४०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन (दो संस्करण)	५ हजार	४.००
१५. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (चार संस्करण)	९ हजार	३०.००
१६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (चार संस्करण)	७ हजार	४०.००
१७. ऐसे क्या पाप किए (पाँच संस्करण) निबंध	१६ हजार ५००	२०.००
१८. नींव का पत्थर (उपन्यास)(पाँच संस्करण)	१५ हजार	१४.००
१९. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद)	५ हजार	३.००
२०. तीर्थंकर स्तवन	५ हजार	१.००
२१. साधना-समाधि और सिद्धि (दो संस्करण)	५ हजार	५.००
२२. चलते फिरते सिद्धों से गुरु (दो संस्करण)	१० हजार	१८.००
२३. जान रहा हूँ देख रहा हूँ (कहानियाँ)चार संस्करण	११ हजार	१२.००
२४. पंचास्तिकाय परिशीलन	३ हजार	५०.००
२५. यदि चूक गये तो (तीन संस्करण)	५ हजार	१५.००
२६. जिन खोजा तिन पाइयाँ (तीन संस्करण)	५ हजार	१५.००
२७. ये तो सोचा ही नहीं (उपन्यास)(चार संस्करण)	१५ हजार १००	२०.००
२८. जम्बू से जम्बू स्वामी	६ हजार	६.००
सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) –		
२९ से ३९. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)		१६०.००
४०. सम्यग्दर्शन प्रवचन	३ हजार	१५.००
४१. भक्तामर प्रवचन	३८ हजार ४००	१८.००
४२. समाधिशतक प्रवचन	३ हजार	२५.००
४३. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२)	८ हजार २००	८.००
४४. गागर में सागर (प्रवचन)	२३ हजार ६००	७.००
४५. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	१ लाख ५८ हजार	५.००
४६. गुणस्थान-विवेचन	३० हजार ५००	३५.००
४७. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह)	२७ हजार २००	१२.००
४८. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह)	१२ हजार	१५.००
४९. अध्यात्म वरणी (तारण स्वामी)		
५० से ५४. जैनपथप्रदर्शक के ५ विशेषांक –		
(आ. श्री कुन्दकुन्द, श्रीकानजीस्वामी, श्री बाबूभाई, श्री रामजीभाई एवं श्री खेमचन्दभाई)		

दृष्टि का विषय/द्रव्यदृष्टि

(संक्षिप्त, सरल सारांश)

द्रव्य शब्द के अनेक अर्थ :

(१) देखो, 'द्रव्य' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उनमें एक अर्थ 'अर्थ' भी है, धन भी है। जिसके पीछे सारी दुनिया पागल हो रही है; परन्तु ध्यान रहे, यहाँ अध्यात्म जगत में 'द्रव्य' शब्द का अर्थ धन नहीं है।

(२) जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार इस लोक में सत् स्वरूप जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये छह वस्तुएँ हैं, जिन्हें द्रव्य कहते हैं – ये छह द्रव्य भी दृष्टि के विषय नहीं हैं अर्थात् इस अध्यात्म के प्रकरण में द्रव्यदृष्टि के प्रसंग में आया 'द्रव्य' शब्द इन छह द्रव्यों का सूचक भी नहीं है।

(३) तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, सत् द्रव्यलक्षणं** तथा **गुणपर्ययवद् द्रव्यं** आदि सूत्रों में प्रतिपादित सत् स्वरूप एवं गुण-पर्याय वाला द्रव्य भी दृष्टि का विषय नहीं है।

(४) प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टमय होती है। उसमें स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव – ऐसे चार अंश होते हैं, जिनको मिलकर ही वस्तु पूर्ण होती है, उन चारों में भी एक का नाम **'द्रव्य'** है। वह द्रव्य या द्रव्यांश भी अकेला दृष्टि का विषय नहीं है। इसतरह लोक में और भी अनेक अर्थों में 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे – (५) पूजन के अष्ट द्रव्य, (६) अष्ट मंगल द्रव्य आदि – ये कोई भी 'द्रव्य' दृष्टि के विषय नहीं हैं।

'तो फिर दृष्टि का विषय क्या है ?' – इस प्रश्न का उत्तर जानने के पूर्व 'दृष्टि' शब्द का अर्थ भी जानना होगा।

दृष्टि शब्द के अर्थ :

'दृष्टि' शब्द के मूलत: दो अर्थ होते हैं। एक 'श्रद्धा' और दूसरा 'अपेक्षा।' प्रथम 'श्रद्धा' के अर्थ में 'दृष्टि के विषय' की बात करें तो हमारी दृष्टि का विषय क्या हो ? अर्थात् हमारी सत् श्रद्धा का श्रद्धेय, हमारे परम शुद्ध निश्चयनय के विषयरूप ज्ञान का ज्ञेय और हमारे परम ध्यान(निश्चय धर्मध्यान) का ध्येय क्या हो ? हम अपनी श्रद्धा किस पर समर्पित करें, किसे अपने निश्चयनय के ज्ञान का ज्ञेय बनाये और किसे अपने निर्विकल्प ध्यान का ध्येय बनाये, जिससे कि हमारा मोक्षमार्ग सध सके; रत्नत्रय की आराधना, साधना एवं प्राप्ति हो सके, हम प्राप्तपर्याय में पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकें ?

जो व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि 'दृष्टि का विषय' मात्र सम्यग्दर्शन का विषय है, वे भ्रम में हैं। यह मात्र सम्यग्दर्शन का विषय नहीं, अपितु यह सत् श्रद्धा का श्रद्धेय, परम शुद्ध निश्चयनय के ज्ञान का ज्ञेय और निर्विकल्प परम ध्यानरूप सम्यक् चारित्र का साध्य है, निश्चयरत्नत्रय का विषय है। कहा भी है –

परमशुद्धनिश्चयनय का है ज्ञेय जो।
सत्श्रद्धा का एकमात्र श्रद्धेय जो॥
परमध्यान का ध्येय उसे ही ध्याऊँ मैं।
उसे प्राप्त कर उसमें ही रम जाऊँ मैं॥

'द्रव्यदृष्टि' और 'पर्यायदृष्टि' वाक्यों में जो 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग है, वह 'श्रद्धा' का वाचक या सूचक नहीं; अपितु अपेक्षा का सूचक है। 'द्रव्यदृष्टि' अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से और 'पर्यायदृष्टि' अर्थात् पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से।

पर्याय शब्द का अर्थ :

शास्त्रों में बहुत-सी अपेक्षाओं से **पर्याय** का वर्णन है, इसलिए **पर्याय** शब्द का भी सही अर्थ समझना आवश्यक है।

पर्यायार्थिकनय का विषय जो-जो वस्तु बनती हैं, उन सभी की **पर्याय** संज्ञा है, चाहे वह द्रव्य हो, गुण हो या पर्याय हो। जैसेकि – जो भारत का नागरिक हो, वही भारतीय है। भले, वह हिन्दू हो, मुस्लिम हो, सिख हो या ईसाई हो; उसी तरह जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, वे सब पर्यायें हैं।

देखो, सम्पूर्ण जिनवाणी नयों की भाषा में निबद्ध है और नयों के कथन में मुख्य-गौण की व्यवस्था अनिवार्य होती है, क्योंकि वे अनन्त धर्मात्मक वस्तु का सापेक्ष कथन ही कर सकते हैं, प्रमाण की विषयभूत वस्तु के अनेक (अनन्त) धर्मों को एकसाथ नहीं कह सकते। अत: दृष्टि के विषय को समझने के लिए पहले हमें नयों की उन अपेक्षाओं को जानना होगा, जो हमें दृष्टि के विषय को अर्थात् सम्यक् श्रद्धा के श्रद्धेय को, निश्चयनय के विषयभूत ज्ञान के ज्ञेय को और परमध्यान के ध्येय को बताते हैं।

द्रव्य का स्वचतुष्टयस्वरूप :

यहाँ ज्ञातव्य है कि – प्रत्येक वस्तु (छहों द्रव्य) अपने-अपने स्वचतुष्टय मय होती है। स्वचतुष्टय का अर्थ है वस्तु का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव। इन चारों सहित होने से ही द्रव्य को स्वचतुष्टयमय कहते हैं। वस्तु इन स्वचतुष्टयमय होने से ही सत् है।

इस चतुष्टय में प्रत्येक के दो-दो भेद हैं – वस्तु का **स्वद्रव्य**-सामान्य-विशेषात्मक, **स्वक्षेत्र**-असंख्यातप्रदेशी-अखण्ड, **स्वकाल**-नित्या-नित्यात्मक और **स्वभाव**-एकानेकात्मकता।

देखो, अपना आत्मा भी एक वस्तु है, द्रव्य है। इसके भी अपने स्वचतुष्टय हैं। सामान्य-विशेषात्मकता इसका द्रव्य है, असंख्यात प्रदेशी-अखण्ड इसका **क्षेत्र** है, नित्यानित्यात्मकता इसका **काल** है और एकानेकात्मकता इसका **भाव** है। ध्यान रहे, सम्पूर्ण चतुष्टयमय वस्तु का नाम भी द्रव्य है और इन चार चतुष्टय में एक द्रव्यांश का नाम भी द्रव्य है।

यहाँ ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि स्वक्षेत्र में असंख्यात प्रदेश क्षेत्र – ऐसा न कहकर असंख्यातप्रदेशी कहा; क्योंकि असंख्यात प्रदेश कहने

से तो असंख्यात का भेद खड़ा होता है और भेद खड़ा होने से आत्मा का अभेदस्वरूप खण्डित होता है, जबकि दृष्टि का विषय अखण्ड है। असंख्य प्रदेशों के अखण्ड या अभेद का नाम ही वस्तु का **स्व-क्षेत्र** है। इसी तरह अनन्त गुणों का अभेद आत्मा का **स्व-भाव** है तथा अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक पर्यायों का अनुस्यूति से रचित प्रवाह आत्मा का **स्व-काल** है।

इसप्रकार **सामान्यात्मक, एकात्मक, त्रिकाली और असंख्यात प्रदेशी आत्मद्रव्य या भगवान आत्मा, कारणपरमात्मा ही दृष्टि का विषय है, सत् श्रद्धा का श्रद्धेय है एवं निर्विकल्प ध्यान का ध्येय है।**

इसके विपरीत विशेष, अनित्यता, अनेक और भेद – यद्यपि ये भी वस्तु के ही धर्म हैं, किन्तु ये पर्यायार्थिकनय के विषय होने से दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हो सकते। जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, वे भले द्रव्य या द्रव्यांश हों, गुण या गुणांश हो या पर्यायांश हों – सब पर्यायें ही हैं; अत: ये दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं होते।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार गाथा ६ व ७ में प्रमत्त-अप्रमत्त दशाओं से और गुणभेद से भिन्नता की बात कहकर भगवान आत्मा को पर्याय से भिन्न बताया है; क्योंकि प्रमत्त व अप्रमत्त दशायें तो आत्मा की पर्यायें हैं ही, गुणभेद भी पर्यायार्थिकनय का विषय होने से पर्याय ही है और जो-जो पर्यायार्थिकनय का विषय बनेंगे, उन सबकी पर्यायसंज्ञा है; क्योंकि गुणार्थिक नाम का नय तो कोई है नहीं तथा गुणभेद में भेद की मुख्यता के कारण उसको द्रव्यार्थिकनय का विषय बनाया नहीं जा सकता; क्योंकि द्रव्यार्थिकनय का विषय तो द्रव्य का अभेद, अखण्ड, एक और सामान्य पक्ष ही बनता है।

ध्यान रहे, समयसार की ७ वीं गाथा में भगवान आत्मा में विद्यमान गुणों का निषेध करना इष्ट नहीं है; क्योंकि अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड तो भगवान आत्मा है ही। निषेध तो गुणभेद का किया है; क्योंकि गुणभेद पर्यायार्थिकनय का विषय होने से पर्याय ही है।

प्रश्न : यदि दृष्टि के विषयभूत आत्मा में पर्याय सम्मिलित नहीं है तो फिर आत्मा के द्वारा जानने का काम भी संभव नहीं होगा; क्योंकि जानना तो स्वयं पर्याय है। जाननेरूप पर्याय के कारण ही तो आत्मा को **ज्ञायक** कहा जाता है न ! समयसार में स्पष्ट कहा है कि – आत्मा में न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है; वह तो मात्र ज्ञायक है। मूल गाथांश इसप्रकार है –

णवि णाणं न चरित्तं, ण दसणं जाणगो शुद्धो।[1]

उत्तर : ध्यान रहे, पर्याय को मात्र दृष्टि के विषय में से निकाला है, वस्तु में से नहीं, द्रव्य में से भी नहीं तथा गौण करने के अर्थ में ही पर्याय के अभाव की बात कही गई है और उक्त सातवीं गाथा में भी गुणभेद से भिन्नता की बात कहकर भी पर्याय से ही पार बताया है, गुणों से भिन्न नहीं बताया; क्योंकि गुणभेद का नाम भी तो पर्यायार्थिकनय का विषय होने से पर्याय ही है।

देखो, प्रयोजन की दृष्टि से ही गुण एवं गुणभेद को पृथक्-पृथक् पक्ष में खड़ा किया है। इनमें गुणों को तो अभेदपने दृष्टि के विषय में सम्मिलित कर दिया और गुणभेद को दृष्टि के विषय में से निकाल दिया है, पृथक् कर दिया है; क्योंकि निर्विकल्प की ग्राहक दृष्टि भेद को विकल्पात्मक होने से स्वीकार नहीं करती।

जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, वे भले द्रव्यांश हों, गुणांश हों या पर्यायांश हों; सब पर्यायें ही हैं, सबकी एक पर्यायसंज्ञा है। ये सब भेद ही खड़ा करते हैं, अत: ये दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हो सकते।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नयों की भाषा में कथन की गई एक अपेक्षा मुख्य एवं शेष अनुक्त अपेक्षायें गौण होती हैं।

परमशुद्ध निश्चयनय के विषय में वस्तु का सामान्य, अभेद, अखण्ड और एक, पक्ष मुख्य रहता है और यही दृष्टि का विषय बनता है तथा वस्तु का विशेष, भेद, अनेक और खण्ड-खण्ड पक्ष पर्यायार्थिकनय का विषय है और

१. आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा ७, पृष्ठ -१७

यह दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं होता अर्थात् गौण रहता है।

तात्पर्य यह है कि – दृष्टि के विषय में पर्यायार्थिकनय की विषयवस्तु, जिसके विशेष,अनित्य और खण्ड-खण्ड भेद – ऐसे चार अंश होते हैं; इनकी पर्याय संज्ञा है और ये दृष्टि के विषय में सम्मिलत नहीं होते तथा जो सामान्य आदि चार अंश हैं, उनकी द्रव्यसंज्ञा है और वे दृष्टि के विषय में सम्मिलित हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्द की गाथा **पज्जयमूढा हि पर समया:** की व्याख्या करते हुए कहा है कि – उक्त गाथा में असमानजातीय द्रव्यपर्यायों को मुख्य किया है। असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यंच आदि को ग्रहण किया है। इन पर्यायों रूप मैं नहीं हूँ।[1] – ऐसा कहकर द्रव्य-पर्यायों को मुख्य किया है। तथा इन्हीं पर्यायों को पृथक् करने की बात की है। वहाँ उन्होंने जब अशुद्ध राग-द्वेषादि पर्यायों की पृथकता की भी बात नहीं की तो केवलज्ञान जैसी शुद्ध पर्याय की पृथकता की चर्चा का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इसीप्रकार प्रवचनसार गाथा ११४ में 'पज्जयगऊण किच्चा' लिखा है जिसका अर्थ है – 'पर्याय को गौण करके' अर्थात् जो पर्याय को गौण करके अकेले द्रव्य के पक्ष को ग्रहण करता है, वह **द्रव्यार्थिकनय** है तथा जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है वह **पर्यायार्थिकनय** है।

यहाँ स्पष्टरूप से गौण करने को लिखा है, अभाव करने को नहीं।

यदि कहीं व्यवहार का निषेधपरक अर्थ निकलता भी है तो उसे लौकिक व्यवहार में न उलझने के अर्थ में ही ग्रहण करना। नयों के निषेध के अर्थ में ग्रहण नहीं करना। जैसेकि – शादी-विवाह, तिया-तेरहवाँ जैसे लोकव्यवहारो अथवा ऐसी ही अन्य-औपचारिकताओं की पूर्ति में अपने जीवन के अमूल्य क्षण बर्बाद नहीं करने के अर्थ में कहा गया है – ऐसा समझना। व्यापार-धंधों

१. प्रवचनसार गाथा ९३ की तत्त्वप्रदीपिका

में अधिक नहीं उलझना – ऐसा निषेधपरक अर्थ करना। नयों के भेदपरक विषय का प्रतिपादन करने का निषेध नहीं मानना। नयों के प्रतिपादन में तो मुख्य-गौण की ही व्यवस्था है, निषेध की नहीं।

समयसार गाथा ७३ की टीका में जो सामान्य-विशेषात्मक आत्मद्रव्य को दृष्टि का विषय कहा है, वहाँ सामान्य का अर्थ दर्शन एवं विशेष का अर्थ ज्ञान है और वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है; जबकि अन्यत्र जहाँ विशेष का अर्थ भेद होता है, वह पर्यायार्थिकनय का विषय बनने से पर्याय ही है, इसकारण वह दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हो सकती।

द्रव्यदृष्टि के सन्दर्भ में द्रव्य एवं पर्याय का स्वरूप :

जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, उन सबकी पर्याय संज्ञा है और जो-जो द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, उन सबकी द्रव्यसंज्ञा है।

देखो, जिसप्रकार द्रव्य (द्रव्यांश) का भेद (विशेष) तो दृष्टि के विषय में नहीं है; पर द्रव्यांश का अभेद (सामान्य) दृष्टि के विषय में सम्मिलित रहता है, क्षेत्र का भेद (प्रदेशों का भेद) दृष्टि के विषय में नहीं रहता; पर क्षेत्र का अभेद प्रदेशों की अखण्डता दृष्टि के विषय में सम्मिलित रहती है तथा गुण का भेद दृष्टि के विषय में नहीं आता; पर गुणों का अभेद सम्मिलित रहता है; उसीप्रकार काल (पर्याय) की अनित्यता तो दृष्टि के विषय में नहीं रहती; किन्तु काल की नित्यता=काल के अभेद (पर्यायों के अनुस्यूति से रचित प्रवाह) को दृष्टि के विषय में सम्मिलित किया है।

मात्र काल के भेद का नाम पर्याय नहीं है; किन्तु काल का भेद, प्रदेश का भेद, गुण का भेद और द्रव्य का भेद – इन चारों का नाम पर्याय है।

काल का अभेद=काल की नित्यता (निरन्तरता) पर्यायों का अनुस्यूति से रचित प्रवाह पर्याय में शामिल नहीं है। मात्र – चारों के भेद ही पर्याय में शामिल हैं। अत: काल की नित्यता अर्थात् पर्यायों का अनुस्यूति से रचित धाराप्रवाहपना द्रव्यदृष्टि के विषय में शामिल है, इसे नहीं भूलना चाहिए।

प्रश्न : जब 'ज्ञानमात्र' आत्मा का लक्षण है तो आत्मा का दूसरा नाम 'ज्ञान' ही क्यों नहीं रखा ?

उत्तर : 'ज्ञान' नाम देने से आत्मा के अनन्त गुणों की उपेक्षा होती है, मात्र ज्ञानगुण आत्मा के समग्र स्वरूप को बताने में समर्थ नहीं है। ज्ञानमात्र कहने से अनन्तगुणमय सम्पूर्ण आत्मा समझ में नहीं आता है। जबकि –

ज्ञानमात्र इस शब्द में, हैं अनन्त गुण व्याप्त।
ज्ञायक भी कहते उसे, प्रगट पुकारा आप्त।।

यदि ज्ञायक को मात्र जाननेवाले के अर्थ में ही ग्रहण किया जाये तो वह एक ज्ञानगुणवाला हो जायेगा और ज्ञानगुणवाला कहने से भेद खड़ा हो जायेगा तथा भेद का नाम तो पर्याय है, वह त्रिकाली ध्रुव में शामिल नहीं है।

प्रत्येक वस्तु स्व-चतुष्टय से युक्त होती है, यह एक नियम है। वस्तु उसी का नाम है जो स्व-चतुष्टय से युक्त है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा भी है –

सदैव सर्वं को नेच्छेत, स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।।[1]

ऐसा कौन है जो वस्तु को स्व-चतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप में स्वीकार नहीं करेगा ? और ऐसा कौन है, जो वस्तु को पर-चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप स्वीकार नहीं करेगा ? यदि कोई ऐसा है भी तो वह अपनी इस बात को सिद्ध नहीं कर पायेगा अर्थात् जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव – इन चार को स्वीकार नहीं करेगा तो उसके मतानुसार वस्तुव्यवस्था ही नहीं बनेगी; क्योंकि **द्रव्य** का अर्थ है वस्तु, **क्षेत्र** का अर्थ है प्रदेश, **काल** का अर्थ है पर्याय और **भाव** का अर्थ है गुण। जिसमें ये द्रव्य-गुण-पर्याय और प्रदेश सम्मिलित हैं, उसका नाम ही वस्तु है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने कहा है कि ''अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं।[2]'' यहाँ 'अनादिनिधन'

१. देवगाम स्तोत्र, श्लोक - १५ २. मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय १

कहकर काल की बात कही है।

जब दृष्टि के विषय में पर्याय का निषेध किया जाता है तो हम काल नामक अंश का निषेध समझ लेते हैं, जबकि वस्तु के जो चार अंश – द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, उनमें जो कालांश हैं, वह दृष्टि के विषय में शामिल है। उसे द्रव्य में से निकाल देने पर तो द्रव्य के ही खण्डित होने का खतरा है; फिर भी अज्ञजनों द्वारा काल अंश को पर्याय समझकर उसका निषेध कर दिया जाता है। आचार्य समन्तभद्र ने भी यही कहा है कि – काल के बिना अखण्ड वस्तु स्वीकार नहीं की जा सकती।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी लिखा है कि – 'न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि।'

न तो मैं द्रव्य से खण्डित हूँ, न क्षेत्र से खण्डित हूँ, न काल से खण्डित हूँ और न भाव से खण्डित हूँ, मैं तो एक अखण्ड तत्त्व हूँ।[1]

यदि वस्तु में से काल-खण्ड निकाल दिया जाय तो वह वस्तु काल से खण्डित हो जायेगी और फिर वह वस्तु ही नहीं रहेगी।

द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिकनय के विषय :

देखो, जिसप्रकार गुणों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और गुणभेद पर्यायार्थिकनय का, प्रदेशों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय और प्रदेश भेद पर्यायार्थिकनय का, द्रव्य का अभेद (सामान्य) द्रव्यार्थिकनय का विषय है और द्रव्यभेद (विशेष) पर्यायार्थिकनय का; उसीप्रकार काल (पर्यायों) का अभेद अर्थात् पर्यायों का परस्पर अनुस्यूति से रचित प्रवाहक्रम अथवा पर्यायों की निरन्तरता (नित्यता) द्रव्यार्थिकनय का विषय है और कालभेद अर्थात् पर्यायों का कालखण्ड पर्यायार्थिकनय का विषय बनता है।

द्रव्यार्थिकनय का विषय ही दृष्टि का विषय है; क्योंकि द्रव्यार्थिकनय का विषय अभेद है और निर्विकल्पता का जनक है। पर्यायार्थिकनय का विषय

१. समयसार की आत्मख्याति की टीका के परिशिष्ट में २७० कलश के बाद

भेद विकल्प का जनक होने से दृष्टि का विषय नहीं हो सकता।

प्रवचनसार में जो ४७ नय कहे हैं, उनमें विकल्पनय और अविकल्पनय में विकल्पनय का अर्थ भेद और अविकल्पनय का अर्थ अभेद ही है।

गुण एवं पर्याय का स्वरूप :

ध्यान रहे, जैसी नित्यता और अनित्यता में नित्यता द्रव्य व अनित्यता पर्याय है, वैसे नित्यत्व व अनित्यत्व जो आत्मा के धर्म हैं, उनमें द्रव्य व पर्याय का भेद नहीं है; क्योंकि वे दोनों गुण हैं, धर्म हैं, अत: उनमें कोई भी पर्याय नहीं है।

इसीतरह सर्वज्ञता पर्याय और सर्वज्ञत्वशक्ति गुण है, सर्वदर्शित्व (सर्वदर्शीपना) पर्याय है और सर्वदर्शित्व नाम की शक्ति गुण है। इनमें जो-जो पर्यायें हैं, वे दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हैं और सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अभेदरूप से गुण (धर्म) दृष्टि के विषय में सम्मिलित हैं; क्योंकि ये सब गुण के ही रूपान्तर हैं।

''अन्वयिनो गुणा: अथवा सहभुवा गुणा इति गुणलक्षणं। व्यतिरेकिण: पर्याया अथवा क्रमभुवा पर्याया इति पर्याय लक्षणम्।[१]''

'यह वही-यह वही' यह अन्वय का लक्षण है। यह अन्वय अर्थात् साथ-साथ रहनेवाले गुण हैं, जो भिन्न हैं वे पर्यायें हैं, ये क्रमश: गुण व पर्याय के लक्षण हैं। अपने-अपने विशेष व सामान्य गुणों के साथ अभिन्नता होने से सभी द्रव्य गुणात्मक हैं। हम पर्याय के नाम पर गुणों को भी दृष्टि के विषय में से न हटा दें, इसलिए गुण व पर्याय का स्वरूप जानना जरूरी है।

शास्त्रों में गुणों को भी पर्याय नाम से कहा गया है। जैसेकि – पर्यायें दो प्रकार की होती हैं – १. सहभावी २. क्रमभावी। सहभावी पर्याय गुण को कहते हैं और क्रमभावीपर्याय पर्याय को कहते हैं। अतएव हम पर्याय के नाम पर सभी पर्यायों को भी दृष्टि के विषय में से

१. प्रवचनसार गाथा ९३ की तात्पर्यवृत्ति टीका

निकाल नहीं सकते।

यदि हम पर्याय का लक्षण नहीं समझेंगे तो किस पर्याय को हम दृष्टि के विषय में सम्मिलित करें और किसे सम्मिलित नहीं करें – यह निर्णय नहीं कर सकेंगे। अत: हमें गुण व पर्यायों का सम्यक्स्वरूप समझना एवं उनका प्रयोग करने का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

व्यवहारनय की उपयोगिता :

जैनदर्शन में किस नय को कहाँ मुख्य और कहाँ गौण करना – यह विवेक नयों के प्रयोगकर्त्ता (वक्ता) को होना ही चाहिए, होता ही है, अन्यथा वह जिनवाणी का वक्ता नहीं हो सकता। आगम में भी यही कहा है –

वक्तुरभिप्रायो नय: अर्थात् वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं। किस नय का कब/कहाँ/कैसे प्रयोग करना – यह वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ – 'रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए' – यह कथन व्यवहारनय का है कि निश्चयनय का ? यदि इस व्यवहारनय के कथन को कभी भी मुख्य नहीं करेंगे तो इसका अर्थ यह हो जायेगा कि सभी को रात में खाने देना चाहिए। यदि हम ऐसा कहेंगे कि – ''द्वि इन्द्रियादि जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए'' तो व्यवहारनय मुख्य हो जायेगा और व्यवहारनय मुख्य करना नहीं है। इसकारण यह उपेदश ही न दें तो चरणानुयोग का क्या होगा ? और तब हीन आचरणवाले को तत्त्वज्ञान भी कैसे होगा ?

प्रश्न : अध्यात्मियों को तो व्यवहारनय का प्रयोग उचित नहीं है ?

उत्तर : यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि पण्डित टोडरमलजी ने स्पष्ट कहा कि – 'यदि सिद्धान्त का अध्ययन करना है तो गोम्मटसार का स्वाध्याय करना और यदि अध्यात्म जानना है तो आत्मख्याति का स्वाध्याय करना।' इसप्रकार पण्डित टोडरमलजी ने जिन अमृतचन्द्राचार्य को अध्यात्म का सर्वश्रेष्ठ आचार्य माना है, उन्हीं अमृतचन्द्र ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में व्यवहारनय के कथनों का अत्यधिक प्रयोग किया है। क्या हम आचार्य

अमृतचन्द्र से भी ऊँचे आध्यात्मिक हो गये, जो व्यवहार की सर्वथा उपेक्षा करने लगे।

हाँ, इतना अवश्य है कि – आत्मानुभूति के काल में निश्चय को ही मुख्य रखना चाहिए, व्यवहार को नहीं।

पण्डित टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में 'द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र' की एक गाथा उद्धृत की है, जो इसप्रकार है –

तच्चाणेसण काले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहण समये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा॥

तत्त्व के अन्वेषण के काल में शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जाने। पश्चात् आराधना के समय अनुभव के काल में नय-प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष अनुभव है।[1]

इसप्रकार इस गाथा में व्यवहार के प्रयोग का निषेध तो अनुभव के काल में किया है। तत्त्व के अन्वेषण के काल में तो इसका (व्यवहार का) समर्थन किया है। अत: निश्चय को ही सदैव मुख्य रखना, व्यवहार को नहीं – यह बात कहाँ रही ?

वास्तव में तो निश्चय से ज्यादा व्यवहार का काल है। जिनको सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, उनको तो हमेशा व्यवहार ही मुख्य है; क्योंकि उनका तो पूरा काल तत्त्वान्वेषण का ही है। सम्यग्दृष्टि को भी छह महीने में एकबार ही क्षणिक अनुभूति होती है, उसके अतिरिक्त समग्रकाल तो व्यवहार का ही कारण है। पंचम गुणस्थानवाले को १५ दिन में एकबार और वीतरागी मुनिराज को भी २४ घण्टे में केवल ८ घण्टे ही अनुभूति रहती है। १६ घण्टे तो उनका भी व्यवहार में समय जाता है। उनका भी तत्त्वान्वेषण का काल अनुभूति के काल से दुगना रहता है।

यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि उन ८ घण्टों में भी लगातार अनुभूति

१. पण्डित टोडरमलजी : रहस्यपूर्ण चिट्ठी

नहीं रहती; क्योंकि यदि अन्तुर्मुहूर्त भी लगातार अनुभूति रह जाय तो केवलज्ञान हो जाता है।

अतएव तत्त्वान्वेषण के काल में व्यवहार मुख्य रहता है और अनुभूति के काल में निश्चय। इसप्रकार व्यवहार की भी उपयोगिता है, व्यवहार को पूर्णरूप से उड़ाया नहीं जा सकता।

प्रवचनसार में जो 'पर्याय को गौण करके' लिखा है, वहाँ गौण का अर्थ पर्याय की सत्ता की अस्वीकृति नहीं है तथा 'मुख्य सो निश्चय और गौण सो व्यवहार' – इन परिभाषाओं का अर्थ यह नहीं है कि – निश्चय को सदैव मुख्य रखना चाहिए और व्यवहार को सदैव गौण रखना चाहिए।

प्रवचनसार की उसी गाथा की दूसरी पंक्ति में यह भी लिखा है कि 'द्रव्यार्थिकनय के विषय को गौण करके और पर्यायार्थिकनय के विषय को मुख्य करके।'

परन्तु इस बात की ओर ध्यान न देकर यदि मात्र ऊपर की पंक्ति को ही पढ़ेगें तो एकान्त होगा। अत: ऐसा समझना चाहिए कि – जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, उनकी पर्यायसंज्ञा है और जो-जो द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, उनकी द्रव्यसंज्ञा है। जिनकी द्रव्यसंज्ञा है, वे दृष्टि के विषय में शामिल हैं और जिनकी पर्यायसंज्ञा है, वे दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हैं।

इसप्रकार अध्यात्म में गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद एवं कालभेद – इन सब की पर्यायसंज्ञा है। ये दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हैं।

सामान्य, अभेद, नित्य और एक – इन चारों की अखण्डता द्रव्यार्थिकनय का विषय है, इनमें भी जो इनका ये चारपना है, वह दृष्टि का विषय नहीं है; क्योंकि वह पर्यायार्थिकनय का विषय है।

मुख्य-गौण का सही स्वरूप :

जिसे गौण करना हो, उसका निषेध न करके उसके बारे में कुछ न कहना ही गौण करना है, निषेध करते ही तो वह मुख्य हो जाता है। चाहे प्रतिपादन

करो या निषेध – दोनों में ही मुख्यता हो जाती है। **जैसे – दृष्टि के विषयभूत आत्मा में पर्याय नहीं है** – ऐसा कहकर हमने पर्यायों को गौण नहीं किया, बल्कि मुख्य कर दिया। गौण तो उस विषय में चुप रहने का नाम है।

किसी घटना को या किसी व्यक्ति को बार-बार याद करने और किसी न किसी रूप में उसे व्यक्त करते रहने का नाम गौण करना नहीं है, बल्कि उसे अचर्चित करना ही गौणता का लक्षण है।

जब ऐसा कहा जाता है कि – दृष्टि के विषय में पर्याय सम्मिलित नहीं है, तब 'पर्याय' का अर्थ मात्र द्रव्य-गुण-पर्याय वाली 'पर्याय' ही नहीं होता है, उस पर्याय में गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद एवं कालभेद भी सम्मिलित है।

समयसार की ७ वीं गाथा में निश्चय-व्यवहार की **अभेद सो निश्चय गुणभेद सो व्यवहार** इस परिभाषा को मुख्य किया है। यही कारण है कि यहाँ द्रव्यदृष्टि में अभेद को निश्चय और गुणभेद को व्यवहार कहा है।

प्रश्न : 'यह बात तो समयसार की सातवीं गाथा में नहीं' छटवीं गाथा में आना चाहिए थी; क्योंकि पर्याय का निषेध तो छटवीं गाथा में है, सातवीं गाथा तो गुण के निषेध की है न ?

उत्तर : नहीं, सातवीं गाथा भी पर्याय के ही निषेध की है, गुण के निषेध की नहीं; क्योंकि गुणभेद को भी तो पर्याय ही कहा जाता है। छटवीं गाथा में तो उपचरित सद्भूतव्यवहार का निषेध है और सातवीं गाथा में 'भेदव्यवहार' नामक अनुपचरित सद्भूतव्यवहार का निषेध है और गुणभेद को पर्याय तथा गुणों के अभेद को द्रव्य कहा जाता है। इसप्रकार सातवीं गाथा में भी पर्याय का ही निषेध किया गया है।

द्रव्य को यदि अनन्त गुणों के रूप में अलग-अलग करके देखा जायेगा तो द्रव्य नहीं दिखेगा; बल्कि अनन्तगुण दिखेंगे। जब अनन्तगुणों को अभेद करके देखेंगे, तब ही द्रव्य दिखाई देगा।

जबतक ज्ञान-दर्शन-चारित्र भेदरूप से दिखाई देंगे, तबतक आत्मा नहीं

दिखेगा। **अनन्त गुणों के अभेद का नाम द्रव्य है।**

यद्यपि द्रव्य में जो अनन्त गुण हैं, उन सभी में लक्षण भेद हैं। जैसे – **ज्ञान** गुण का काम जानना, दर्शन गुण का काम देखना, श्रद्धा गुण का काम अपनापन स्थापित करना। इन सभी के लक्षण अलग-अलग होने से ये जुदे-जुदे हैं; किन्तु ये कभी भी बिखर कर अलग-अलग नहीं होते। ये गुण अनादि से अनन्तकाल तक एक दूसरे से अनुस्यूत हैं – ऐसे अनन्त गुणों के अभेद को द्रव्य कहते हैं।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भी लिखा है कि – 'भेद पर लक्ष्य रखने से अभेदवस्तु ख्याल में नहीं आती है', इसलिए उन्होंने कहा कि 'भेद को **गौण** कर दो।' वे भेद को गौण करने की बात भी इसलिए कहते हैं कि यदि भेद को गौण नहीं किया तो भेद का अभाव मान लिया जायेगा।

जहाँ कहीं भी ऐसा कहा जाता है कि – 'भेद तो है ही नहीं' वह भी **गौण** करने के अर्थ में ही कहा जाता है; अभाव के अर्थ में नहीं; परन्तु भाषा **निषेध** जैसी लगती है; क्योंकि ऐसे निषेध की भाषा का प्रयोग किए बिना गौण कर ही नहीं पाते। अत: निषेध या अभाव जैसी भाषा बोलना वक्ता की मजबूरी है।

जैसे – किसी चीज को तीर का निशाना लगाना होता है तो दूसरी आँख को बन्द करके देखते हैं, यदि दूसरी आँख बन्द नहीं करेंगे तो लक्ष्य स्पष्ट दिखाई नहीं देगा। इसप्रकार दूसरी आँख से नहीं देखने का नाम उस आँख को गौण कर देना है, जिसतरह लक्ष्यभेद के लिए दूसरी आँख सर्वथा फोड़ना नहीं; बल्कि बन्द करना है; उसीतरह दूसरा पक्ष गौण किया जाता है, उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। भले ही भाषा निषेध की ही क्यों न हो।

भेद भी वस्तु का वैसा ही स्वरूप है जैसा कि अभेद। यदि भेद को वस्तु में से निकाल दिया तो पूरी वस्तु ही खण्डित हो जायेगी। इसलिए भेद को गौण करने के लिए कहा जाता है, निषेध के लिए नहीं।

यदि अभेद वस्तु को स्पष्ट देखना हो तो भेद को गौण करना ही होगा।

उस भेदवाली आँख को अभेद को देखते समय ही सर्वथा बन्द रखना है, हमेशा बन्द नहीं रखना है। समय आने पर उसे खोलना भी पड़ेगा।

आत्मा में द्रव्यभेद, क्षेत्र (प्रदेश) भेद, कालभेद और गुण (भाव) भेद तो रहेंगे, किन्तु यदि दृष्टि के विषयभूत आत्मा को प्राप्त करना है तो इन भेदों को गौण करना होगा, इन चारों के अभेदस्वरूप पर दृष्टि करनी होगी।

यद्यपि भेद भी वस्तु के स्वरूप में सम्मिलित है और अभेद भी सम्मिलित है, किन्तु निर्विकल्प अनुभूति भेद के लक्ष्य से नहीं होती। इस प्रयोजन से भेद को गौण करना आवश्यक है। हाँ, जब बात को विस्तार से समझना/समझाना हो तब भेद को मुख्य किया जाता है। जब हम पर्याय को नहीं देखते, पर्याय की उपेक्षा करते हैं, तब भी हमारा प्रयोजन पर्याय को शुद्ध करना ही होता है।

यदि अनाप-शनाप खर्च करनेवाले बेटे को उसका पिता मन-माना पैसा नहीं देता है, पूर्व में दिए पैसे का भी हिसाब पूछकर मर्यादित ही देता है तो उसमें भी पिता का प्रयोजन उस बेटे के लिए ही पैसों की बचत करना होता है। यद्यपि वही पिता बाद में उसको ५ करोड़ देनेवाला है, परन्तु अभी उसी बेटे के हित में ही अनावश्यक पाँच रुपये भी नहीं देता है। इसीप्रकार पर्याय की शुद्धि के लिए ही पर्याय को दृष्टि के विषय में गौण करते हैं। फिर भी यहाँ पर्याय सर्वथा गौण कहाँ हुई? 'पर्याय की शुद्धि के लिए' – इस अपेक्षा तो पर्याय मुख्य ही है न! इसी सम्बन्ध में निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है –

''अपनी आत्मवस्तु के इन चार युगलों में सामान्य, अभेद, नित्य और एक – इनकी एकता द्रव्यार्थिकनय का विषय बनती है और इसीकारण इसका नाम द्रव्य है। बस यही द्रव्य द्रव्यदृष्टि का विषय बनता है, इसमें अपनापन स्थापित होना ही सम्यग्दर्शन है। इसके विरुद्ध अपनी आत्मवस्तु के विशेष, भेद तथा उसकी अनित्यता एवं अनेकता की पर्यायसंज्ञा है और इनमें अपनापन होना ही मिथ्यादर्शन है।

द्रव्यार्थिकनय के विषयभत इस द्रव्य को ही यहाँ शुद्धद्रव्य कहा है और इसे विषय बनानेवाले नय को शुद्धनय, निश्चयनय या शुद्धनिश्चय -नय कहा गया है।[1]''

यहाँ शुद्धता का अर्थ रागादि से रहितपना नहीं है, यद्यपि शुद्धता में रागादिक नहीं हैं; तथापि यहाँ भेद का नाम अशुद्धता तथा भेद से रहितपने का नाम शुद्धता है। राग की अशुद्धि को तो कालभेद में रखकर पहले ही निकाल दिया है। इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्य ही दृष्टि का विषय है।

तीन तरह के प्रमुख द्रव्य :

अबतक की चर्चा में मुख्यत: तीन तरह के द्रव्य सामने आये। पहला – **द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव वाला द्रव्य**। दूसरा – **प्रमाण का विषयभूत द्रव्य,** जिसमें गुण व पर्यायें – दोनों सम्मिलित हैं और तीसरा – **सामान्य, एक, अभेद और नित्य – इन सभी की अखण्डतावाला द्रव्य, यह तीसरा द्रव्य ही दृष्टि का विषय है।** इस दृष्टि के विषयवाले द्रव्य में कालभेद, गुणभेद आदि पर्यायें सम्मिलित नहीं हैं।

प्रश्न : ''प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय से युक्त होती है। स्वचतुष्टय के बिना वस्तु की कल्पना भी नही की जा सकती है। जिसप्रकार प्रत्येक वस्तु स्वयं द्रव्य है, उसके प्रदेश उसका क्षेत्र हैं, उसके गुण उसका भाव हैं; उसीप्रकार उसकी पर्यायें उसका काल हैं।''

उक्त कथन में कहा गया है कि उसकी पर्यायें उसका काल है और काल को दो भागों में विभाजित किया है। एक का नाम कालभेद और दूसरे का नाम काल अभेद तथा अनन्त गुणों को एकसाथ अभेदरूप से ग्रहण करना गुणों का अभेद कहा है। प्रदेशों में भी किसी एक प्रदेश को ग्रहण करना, उसका नाम प्रदेशभेद है और असंख्य प्रदेशों को एकसाथ अभेदरूप से ग्रहण करना, वह प्रदेश-अभेद है; उसीप्रकार काल तो अनादि-अनन्त है, उस काल में से एक

१. समयसार अनुशीलन भाग -१, पृष्ठ - ८०

खण्ड को ग्रहण करने का नाम कालभेद है और काल की अखण्डता को ग्रहण करने का नाम काल-अभेद है। ये जो त्रिकाली कहा जाता है, वह काल का अभेद ही है। 'त्रिकाली' का अर्थ तीन काल नहीं है, अपितु तीनों कालों के अभेद का नाम त्रिकाली है।

यदि किसी से पूछा जाय कि पर्यायें नित्य हैं कि अनित्य ? तो सभी सहज में ही कह देंगे कि अनित्य हैं; परन्तु जब पर्याय अनादिकाल से अनंतकाल तक विद्यमान रहती हैं, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि पर्याय अनित्य है? तथा वे पर्यायें तो नित्य नई-नई आ रही हैं, प्रतिसमय बदल भी रही हैं; अत: उन्हें नित्य भी कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर : जो नित्य बहे, उसका नाम नदी है, जो कभी-कभी बहे, उसका नाम नदी नहीं है। जैसे नदी का 'बहना' अनित्यता है, वैसे ही नदी का हमेशा बहते रहना नदी की 'नित्यता' है।

उसीप्रकार जो द्रव्य है, वह परिणमनशील भी है और अपरिणामी भी है। जो परिणमन हो रहा है, वह परिणमन अनादिकाल से अनंतकाल तक एक समय भी नहीं रुकता है; इसलिए वह परिणमन नित्य ही है अर्थात् उसकी अनित्यता भी नित्य ही है। इसप्रकार अनित्य का अर्थ ऐसा है जो 'कभी हो' और 'कभी न भी हो' और नित्य का अर्थ है जो 'सदा हो।'

अन्य नदियाँ तो कभी-कभी बहना बन्द कर देती हैं; लेकिन गंगा नदी कभी भी नहीं रुकती। जब बरसात होती है, तब गंगा बरसात के पानी से बहती है और गर्मियों में बर्फ पिघलती है, तो उस समय बर्फ के पानी से गंगा बहती है, इसप्रकार गंगा नदी का प्रवाह एक समय भी अवरुद्ध नहीं होता है।

इसीप्रकार द्रव्य का प्रवाह भी अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक एकसमय भी अवरुद्ध नहीं होता है; इसीलिए तो ऐसा कहते हैं कि भगवान! आपकी नित्यता तो नित्य है ही, आपकी अनित्यता भी नित्य है अर्थात् आपकी नित्यता तो अनंत है ही, आपकी अनित्यता भी अनंत है।

आत्मा में जो अनित्य नाम का धर्म है, वह अनित्य नहीं है, अपितु नित्य ही है। नित्य धर्म के समान अनित्य धर्म भी नित्य ही है। जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण नित्य हैं वैसे ही अनित्य नाम का धर्म भी नित्य है।

इसप्रकार अनित्य नाम का धर्म भी नित्य होने से दृष्टि के विषय में शामिल है। इसप्रकार अनित्यधर्म और नित्यधर्म – इनकी अखण्डता दृष्टि के विषय में शामिल है। यदि उस अनित्य धर्म में नित्यत्व नहीं घटता तो वह दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हो सकता था; लेकिन अनित्य धर्म में नित्यत्व घटित होता है; इसलिए 'अनित्य' धर्म भी दृष्टि के विषय में शामिल है।

प्रश्न : दृष्टि के विषय में गुणभेद का निषेध करके भी गुणों के अभेद को रखकर भाव को अखण्डित कर लिया, द्रव्यभेद का निषेध करके भी द्रव्य को रखकर अथवा सामान्य को रखकर द्रव्य को अखण्डित कर लिया, प्रदेशभेद का निषेध करके भी प्रदेशों को अभेदरूप से रखकर क्षेत्र को भी सुरक्षित कर लिया; लेकिन पर्यायों को निकालकर काल को खण्डित कर दिया, जबकि इसी समयसार में आगे ऐसा कहा गया है कि – **न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि, सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रभावोऽस्मि।** इसलिए पर्यायभेद का निषेध कर पर्यायों को अभेदरूप से रखकर काल को भी सुरक्षित करना चाहिए था, लेकिन पर्याय को शामिल न करके दृष्टि के विषय को काल से खण्डित क्यों कर दिया गया है ?

उत्तर : दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को सामान्य, अनादि-अनन्त-त्रिकाली ध्रुव नित्य, असंख्यातप्रदेशी-अखण्ड एवं अनंतगुणात्मक-अभेद, एक कहा गया है। इसमें जिसप्रकार सामान्य कहकर द्रव्य को अखण्ड रखा गया है, असंख्यातप्रदेशी-अखण्ड कहकर क्षेत्र को अखण्ड रखा गया है और

अनंतगुणात्मक-अभेद कहकर भाव को अखण्ड रखा गया है; उसीप्रकार अनादि-अनन्त त्रिकाली ध्रुव नित्य कहकर काल को भी अखण्डित रखा गया है। अन्त में एक कहकर सभीप्रकार की अनेकता का निषेध कर दिया गया है। इसप्रकार दृष्टि के विषयभूत त्रिकालीध्रुव द्रव्य में स्वकाल का निषेध नहीं किया गया है, अपितु विशिष्ट पर्यायों का ही निषेध किया गया है।[1]

उपर्युक्त कथन में आत्मा को द्रव्य की अपेक्षा सामान्य, काल की अपेक्षा अनादि-अनन्त त्रिकाली ध्रुव नित्य, क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यातप्रदेशी और भाव की अपेक्षा अनंतगुणात्मक अभेद कहा गया है।

अन्त में जो 'एक' कहा है, वह मात्र भाववाली अनेकता का निषेध करने के लिए नहीं, अपितु चारों प्रकार की अनेकता का निषेध करने के लिए कहा है; क्योंकि भाव की अनेकता का निषेध करने के लिए तो अभेद कहा है और क्षेत्र की अनेकता का निषेध करने के लिए अखण्ड कहा है, द्रव्य की अनेकता का निषेध करने के लिए सामान्य कहा है और काल की अनेकता का निषेध करने के लिए त्रिकालीध्रुव नित्य कहा है।

दृष्टि के विषय में अभेद सामान्य का निषेध नहीं किया गया, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान – इन विशिष्ट पर्यायों का दृष्टि के विषय में निषेध है। केवलज्ञान भी विशिष्ट पर्याय होने से दृष्टि के विषय में शामिल नहीं है।

दृष्टि के विषय में निगोद से लेकर मोक्ष तक की समस्त पर्यायों का अभेद शामिल है, उस अभेद का नाम काल का अभेद है और काल का अभेद होने से वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है, इसलिए **उस अभेद का नाम द्रव्य है,** पर्याय नहीं; पर्याय तो उसके अंश का नाम है; भेद का नाम है।

प्रश्न : दृष्टि के विषय में अभेद के रूप में पर्याय को शामिल क्यों कर लिया ?

१. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ - ७६

उत्तर : अरे भाई ! जो अभेद के रूप में काल को शामिल किया है, उसका नाम द्रव्य है, पर्याय नहीं। यदि काल के अभेद के शामिल होने से किसी को पर्याय शामिल लगती है तो उसने पर्याय के स्वरूप को ही नहीं समझा।

यद्यपि भगवान आत्मा के समस्त प्रदेशों के अलग-अलग नाम नहीं हैं। लेकिन जिसप्रकार गुणों के अलग-अलग नाम हैं, उसीप्रकार पर्यायों के भी अलग-अलग नाम हैं। उनमें भी एक-एक समय की पर्यायों के नाम हैं – जैसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान आदि।

दृष्टि के विषय में विशिष्ट पर्याय का ही निषेध है, काल के अभेद का निषेध नहीं। काल का अभेद तो दृष्टि के विषय में शामिल है।

प्रश्न : यहाँ 'काल के अभेद' शब्द का ही प्रयोग क्यों किया गया, पर्यायों का अभेद क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : क्योंकि यदि 'पर्यायों का अभेद' दृष्टि के विषय में शामिल है, ऐसा कहते हैं तो लोगों को ऐसा लगता है कि दृष्टि के विषय में पर्याय को शामिल कर लिया है। अरे भाई ! पर्यायों को नहीं, पर्यायों के अभेद को सम्मिलित किया है; क्योंकि ! पर्यायों का अभेद तो द्रव्यर्थिकनय का विषय होने से द्रव्य ही है, पर्याय नहीं। इसप्रकार पर्यायों का अभेद अथवा काल का अभेद दृष्टि के विषय में शामिल है।

"भूतकाल की पर्यायें तो विनष्ट हो चुकी हैं, भविष्य की पर्यायें अभी अनुत्पन्न हैं और वर्तमान पर्याय स्वयं दृष्टि है, जो विषयी है; वह दृष्टि के विषय में कैसे शामिल हो सकती हैं ? विषय बनाने के रूप में तो वह शामिल हो ही रही हैं, क्योंकि वर्तमान पर्याय जबतक द्रव्य की ओर न ढले, उसके सन्मुख न हो, उसे स्पर्श न करे, उससे तन्मय न हो, उसमें एकाकार न हो जाय तबतक आत्मानुभूति की प्रक्रिया भी सम्पन्न नहीं हो सकती। इसप्रकार वर्तमान पर्याय अनुभूति के काल में द्रव्य के

सन्मुख होकर तो द्रव्य से अभेद होती ही है, पर यह अभेद अन्य प्रकार का है, गुणों और प्रदेशों के अभेद के समान नहीं।[1]''

सभी पर्यायें पर्यायार्थिकनय का विषय होने से दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हैं, लेकिन जो पर्यायों का अभेद अर्थात् काल की अखण्डता है, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय होने से दृष्टि के विषय में शामिल है।

पर्याय भी दृष्टि के विषय में शामिल है :

विषय बनाने के रूप में पर्याय भी दृष्टि के विषय में शामिल है। इसी संबंध में ऐसा कहा भी जाता है कि दृष्टि अन्तर्मुख हो गई। जैसे कि करन्ट वाहक बिजली के तार में करन्ट तबतक नहीं आता है, जबतक वह उस पावर प्लग को स्पर्श नहीं करेगा, जिसमें बिजली बहती है; उसीप्रकार जबतक पर्याय ज्ञायकस्वभावी निज जीवद्रव्य को स्पर्श नहीं करेगी, तबतक पर्याय में केवलज्ञान नहीं होगा। स्वभाव में तो सर्वज्ञत्वशक्ति पड़ी हुई है, लेकिन जबतक पर्याय उस स्वभाव का स्पर्श नहीं करेगी, तो उसमें केवलज्ञान कहाँ से आएगा? इस अपेक्षा से पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल है अर्थात् दृष्टि के विषय में मिली हुई है। पर्याय ने स्वभाव का आश्रय लिया, इसलिए भी पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल है।

जब पर्याय उस द्रव्य को ज्ञान का ज्ञेय बना रही है, श्रद्धा का श्रद्धेय बना रही है, जब सारे गुण आत्मसम्मुख हो गए हैं, सारी पर्यायें आत्मसम्मुख हो गई हैं तथा आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का झरना भी पर्यायों में फूट पड़ा है और उस आनन्द में कहीं अन्तराल भी नहीं अर्थात् आनन्द की अखण्डधारा पर्याय में बह रही है। जब पर्याय ने उस द्रव्य के प्रति अपने आपको इतना समर्पित कर दिया है तो फिर पर्याय को द्रव्य में शामिल होने के लिए और क्या करना है ?

पर्याय द्रव्य में शामिल होने के लिए द्रव्य के साथ एकाकार तक

१. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ - ७६-७७

हो गई तथा उसने अपना नाम तक बदल लिया अर्थात् पर्याय ने अपना स्वर भी ऐसा कर लिया कि 'मैं द्रव्य हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं त्रिकालीध्रुव, अनादि-अनंत, अखण्ड हूँ।' वह पर्याय ऐसी भाषा बोलने लगी कि –

अहमेक्को खलु सुद्धो णाणदंसणमइयो सदारूवी।[1]

इसप्रकार विषय बनाने की अपेक्षा 'पर्याय' दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में शामिल ही है।

राधा ने कृष्ण का चिंतवन किया और चिंतन करते-करते वह कृष्णमय हो गई तथा वह ऐसा महसूस करने लगी कि 'मैं कृष्ण हूँ' और कृष्ण के कपड़े भी पहन लिए। कृष्ण भी बार-बार राधा का ही चिंतवन करते थे तो कृष्ण को भी ऐसा लगने लगा कि 'मैं राधा हूँ' और उन्होंने भी राधा की साड़ी पहन ली। अब पता ही नहीं चलता कि कौन राधा है और कौन कृष्ण है ? क्योंकि राधा कृष्ण के भावमय हो गई व कृष्ण राधा के भावमय हो गए। इसप्रकार के प्रयोग साहित्य में भी आते हैं।

जिसप्रकार वह राधा कृष्णमय हो गई और कृष्ण राधामय हो गए; उसीप्रकार वह पर्याय भी द्रव्यमय हो गई। यदि पर्याय द्रव्यमय नहीं हो, तो पर्याय में केवलज्ञान ही नहीं होवे। उपयोग की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है और उपयोग स्वयं पर्याय है। अब यदि वह उपयोग (पर्याय) त्रिकालीध्रुव में अभेद एकाकार नहीं हो तो आत्मा का ध्यान नहीं होगा। उन दोनों के बीच में यदि थोड़ी भी संधि रहेगी, तो आत्मा का ध्यान नहीं होगा।

जाके उर कुबिजा बसै, सोई अलख अजान।
जाके हिरदै राधिका, सो बुध सम्यकवान॥[2]

जिसके हृदय में कुब्जा अर्थात् कुबुद्धि का वास है, वह जीव अज्ञानी है

१. समयसार गाथा ७३
२. समयसार नाटक

और जिसके हृदय में राधिका अर्थात् सुबुद्धि है, वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है।

आगे और भी कहा है –

मूरख के घट दुरमति भासी। पण्डित हिये सुमति परगासी।।
दुरमति कुबिजा करम कमावै। सुमति राधिका राम रमावै।।[1]

मूरख के हृदय में कुमति उपजती है और ज्ञानियों के हृदय में सुमति का प्रकाश रहता है। दुर्बुद्धि कुब्जा के समान है, नवीन कर्मों का बन्ध करती है और सुबुद्धि राधिका है, आत्माराम में रमण कराती है।

वस्तु की समग्रता एवं वृत्ति की समग्रता :

आचार्य अमृतचन्द्र ने टीका में प्रदेशों की अखण्डता को वस्तु की समग्रता और परिणामों की अखण्डता को वृत्ति की समग्रता कहा है तथा दोनों के व्यतिरेकों को क्रमश: प्रदेश और परिणाम कहकर विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों (पर्यायों) का परस्पर व्यतिरेक है, भिन्न-भिन्नपना है।[2] – ऐसा कहा है।

उक्त तथ्य की गहरई में जाने से एक बात स्पष्ट होती है कि यदि विस्तार क्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है तो प्रदेशों और परिणामों का अन्वय अर्थात् अनुस्यूति से रचित विस्तार और प्रवाह; क्षेत्र और काल की समग्रता का कारण होना चाहिए। इसप्रकार यह सहज ही फलित होता है कि वस्तु की समग्रता क्षेत्र की अखण्डता है और वृत्ति की समग्रता काल की अखण्डता है। तात्पर्य यह है कि प्रदेशों में सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित प्रवाह क्षेत्र की अखण्डता है और परिणामों में सर्वत: परस्पर अनुस्यूति से रचित प्रवाह काल की अखण्डता है।[3]

विस्तारक्रम एवं प्रवाहक्रम :

वस्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमय होती है। वस्तु में दो चीजे होती हैं।

१. समयसार नाटक २. प्रवचनसार गाथा ९९ : तत्त्वप्रदीपिका टीका
३. समयसार अनुशीलन भाग १, पृष्ठ - ७७

– एक का नाम है **विस्तारक्रम और दूसरी का नाम है प्रवाहक्रम।** विस्तार क्रम क्षेत्र की अपेक्षा होता है और प्रवाहक्रम काल की अपेक्षा होता है।

आत्मा के असंख्यात प्रदेशों को इसप्रकार फैला दें कि एक प्रदेश में दूसरा प्रदेश न रहे तो वे प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाएँगे।

केवली समुद्घात में जो लोकपूरणदशा होती है, उसमें लोकाकाश के एक-एक प्रदेश के ऊपर आत्मा का एक-एक प्रदेश रहता है अर्थात् जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही एक आत्मा के प्रदेश हैं; आत्मा लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। लोकाकाश में जो असंख्यात प्रदेश हैं अर्थात् तीनों लोक में जो ऊपर-नीचे, अगल-बगल में प्रदेश हैं, उन प्रदेशों का स्थान अनादि काल से निश्चित है और अनंतकाल तक रहेगा। एक भी प्रदेश एक इंच भी इधर-उधर नहीं हिलेगा तथा उन प्रदेशों में एक प्रदेश के छहों तरफ कौन-कौन से प्रदेश रहेंगे, यह भी निश्चित है।

आप सभी को ज्ञात होगा कि परमाणु की रचना षट्कोणमय होती है तथा षट्कोणमय रचना होने से जगह बिल्कुल भी खाली नहीं रहती है अर्थात् दो परमाणु के बीच में स्थान बिल्कुल भी खाली नहीं होता है। जिसप्रकार परमाणु में छह तरफ से छह परमाणु चिपक सकते हैं; उसीप्रकार आत्मा के प्रदेशों में भी एक प्रदेश को छह प्रदेश घेरे हुए हैं। आत्मा के वे प्रदेश अनादिकाल से अनंतकाल तक उसी स्थिति में रहेंगे, चाहे वे प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जायें या वे छोटे शरीर में आकर सिमट जायें।

जिसप्रकार रूमाल में जो धागे रहते हैं, वे अगल-बगल से एक निश्चित क्रम में बुने रहते हैं। रूमाल को हम चाहे जैसा भी घुमाते रहें, फिर भी उनका क्रम भंग नहीं होता है अर्थात् क्रम बदलता नहीं है।

इसप्रकार प्रदेशों का एक निश्चित क्रम है और उसी क्रम में वे रहते हैं अर्थात् उन प्रदेशों का एक व्यवस्थित क्रम है और वह क्रम अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा, उसे कभी भी बदला नहीं जा सकता है।

लोकाकाश के प्रदेशों के समान आत्मा के प्रदेशों का भी निश्चित क्रम है।

जब आत्मा के प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं, तब भी आत्मा के प्रदेशों का क्रम वही रहता है। वह क्रम कभी बदला नहीं जा सकता है; इसे ही विस्तारक्रम कहते हैं।

जिसप्रकार विस्तारक्रम में प्रदेशों के स्थान को बदला नहीं जा सकता है, उसीप्रकार प्रवाहक्रम में पर्याय को निश्चित समय से बदला नहीं जा सकता है। जिसप्रकार प्रदेशों का क्रम सुनिश्चित है; उसीप्रकार अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक जितने समय हैं, उनमें प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय एक-एक समय में खचित है, न तो यह संभव है कि कल की पर्याय को आज ले आयें या आज की पर्याय को कल ले जायें।

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र ने विस्तारक्रम से प्रवाहक्रम को सिद्ध किया है।

यदि किताब में से पीछे के एक पेज को आगे लाना हो तो फाड़कर लाना पड़ेगा, पेज फाड़ने से फिर वह किताब अखण्ड नहीं रहेगी। यदि द्रव्य के एक प्रदेश को दूसरी जगह हटाना हो तो द्रव्य के टुकड़े करने पड़ेगे। टुकड़े करने से वस्तु अखण्ड नहीं रहेगी; जबकि वस्तु उसे कहते हैं, जो अखण्ड हो अर्थात् जिसके खण्ड नहीं हो सकें; अतएव प्रदेशों को एक जगह से दूसरी जगह बदला नहीं जा सकता है।

जिसप्रकार विस्तारक्रम में यह नियम है कि एक प्रदेश को दूसरी जगह नहीं बदला जा सकता है; उसीप्रकार प्रवाहक्रम में भी यह नियम है कि एक पर्याय को कभी भी दूसरी जगह बदला नहीं जा सकता है। जैसे – किसी की सिद्धपर्याय एक लाख वर्ष बाद हो और वह अभी लाना चाहता हो तो वह स्वकाल में से जो सिद्धपर्याय निकालेगा तो एक कट तो वहाँ लग जाएगा और जहाँ पर भी लाना चाहेगा, वहाँ पर भी एक कट लग जाएगा। यदि एक पर्याय को समय से पहले कोई स्थानांतरित करना चाहेगा तो आत्मा की अनादि-अनंतता खण्डित हो जायेगी; जबकि वस्तु उसे कहते हैं, जो अखण्ड

रहती है! अतएव पर्याय को कभी भी बदला नहीं जा सकता है।

एक लाख वर्ष बाद आनेवाली सिद्धपर्याय को यदि वह लाना चाहेगा तो सिद्धपर्याय आने के बाद संसारपर्याय कभी आती नहीं है; इसलिए अभी से लेकर एक लाख वर्ष तक संसारपर्यायों का क्या होगा ? सिद्धपर्याय लाने के लिए उन्हें खत्म करना पड़ेगा। यदि उन्हें खत्म किया तो उतना द्रव्य खण्डित हो जाएगा। जैसे नौ मीटर की धोती में से बीच में से यदि एक मीटर निकाल दिया जाता है तो वह आठ मीटर रह जाएगी और बीच में एक जोड़ लग जावेगा; उसीप्रकार यदि आत्मा में से उतने समय की संसार पर्यायें निकाली गईं तो आत्मा काल से खण्डित हो जाएगा, उतना छोटा हो जायेगा, अनादि-अनंत नहीं रहेगा और उसमें एक जोड़ लग जायेगा।

जिसप्रकार वस्तु में क्षेत्र की अखण्ता होती है, काल की अखण्डता होती है; उसीप्रकार वस्तु में गुणों की अखण्डता भी होती है। ४७ शक्तियों के प्रकरण में गुरुदेवश्री कहते थे कि 'एक का रूप दूसरे में है', वह गुणों की अखण्डता का सबसे बड़ा हेतु है। यदि एक गुण का रूप दूसरे में न हो तो गुण बिखरकर अलग-अलग हो जायेंगे। यदि ज्ञानगुण में अस्तित्व गुण का रूप नहीं हो तो ज्ञानगुण का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, फिर ज्ञान गधे के सींग के समान हो जायेगा। अस्तित्व गुण में यदि प्रमेयत्वगुण का रूप नहीं हो तो अस्तित्व गुण जाना ही नहीं जा सकेगा। यदि ज्ञानगुण अनंतगुणों में व्याप्त नहीं होगा तो फिर पूरा आत्मा ज्ञानी कैसे होगा ? यदि ज्ञानगुण अनंतगुणों में व्याप्त नहीं हो तो फिर ज्ञानगुण ही चेतन होगा, आत्मा के शेष गुण अचेतन रहेंगे; क्योंकि ज्ञानदर्शन को ही चेतना कहा जाता है; इसलिए गुणभेद इष्ट नहीं हैं।

यदि गुणभेद को सर्वथा स्वीकार करते हैं तो बाकी के समस्त गुण अचेतन हो जाते हैं; क्योंकि वह चेतनता उसमें से अलग हो गई। चीनी में से यदि मिठास निकल जाए तो चीनी न तो खारी होगी, न मीठी होगी। यदि उस चीनी में रस नहीं रहेगा तो वह कुछ भी नहीं होगी। वैसे ही यदि आत्मा में से

चेतनगुण निकल गया तो बाकी के गुण भी अचेतन हो जायेंगे।

इसप्रकार वस्तु में क्षेत्र की अखण्डता, काल की अखण्डता के साथ-साथ गुणों की अखण्डता भी होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने यहाँ पर काल की अखण्डता को समझाने के लिए प्रदेश की अर्थात् क्षेत्र की अखण्डता का उदाहरण दिया है। यहाँ 'काल की अखण्डता' – यह सिद्धान्त है और 'प्रदेश की अखण्डता' – यह उदाहरण है।

प्रश्न : जब क्षेत्र को बदलने के बारे में किसी को कोई विकल्प नहीं होता है तो फिर पर्याय को बदलने के बारे में विकल्प क्यों उत्पन्न होता है ?

उत्तर : हमें पर्याय को बदलने की इच्छा इसलिए होती है; क्योंकि आत्मा के प्रदेश (क्षेत्र) के पलटने से कोई बिगाड़-सुधार नहीं है अर्थात् यदि माथे में स्थित आत्मा के प्रदेश पैर में चले जायें या पैर में स्थित प्रदेश माथे में आ जायें तो हमें कोई दुःख नहीं होता है; इसलिए प्रदेशों के कारण कोई बिगाड़-सुधार नहीं है।

चूँकि पर्याय में बिगाड़-सुधार होता है अर्थात् कोई पर्याय हमें दुःखमय लगती है और कोई सुखमय, इसलिए पर्याय को बदलने की इच्छा होती है। लेकिन पर्याय को बदला नहीं जा सकता है। पर्याय के संबंध में जो हमारा अज्ञान है, उसे तो बदला जा सकता है; लेकिन पर्याय को नहीं।

जिसप्रकार विस्तार के क्रम को क्षेत्र कहते हैं, उसीप्रकार प्रवाह के क्रम को काल कहते हैं। जिसप्रकार क्षेत्र से भगवान आत्मा अखण्ड है, उसीप्रकार काल से भी भगवान आत्मा अखण्ड है।

यदि हम लोगों की समझ में यह बात आ जाय कि 'काल से भगवान आत्मा अखण्ड है' तो फिर हम पर्याय को पलटने की बात सोचेंगे ही नहीं; क्योंकि उसमें पलटाव हो ही नहीं सकता है।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो हमारे पुरुषार्थ का क्या होगा ?

उत्तर : अरे भाई ! जिस दिन हमें यह बात समझ में आएगी, उस दिन ही

सच्चा पुरुषार्थ प्रकट होगा। अभी तो हम अज्ञानवश राग-द्वेष के जनक पर में फेर-फार करने को, धनार्जन एवं कामभोग की क्रियाओं को पुरुषार्थ समझते हैं, जो नरक निगोद में डालनेवाला, संसार में घुमानेवाला अन्यथा पुरुषार्थ है। असली पुरुषार्थ तो उस दिन प्रकट होगा जिस दिन हम यह स्वीकार करेंगे कि भगवान आत्मा काल से भी अखण्ड है अर्थात् पर्याय में भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

इसप्रकार प्रदेशों की अखण्डता को विस्तारक्रम कहते हैं और वह प्रदेशों की अखण्डता द्रव्यार्थिकनय का विषय है। वे सभी प्रदेश अनादि-अनंत और अखण्ड हैं। अखण्ड होने के बावजूद भी उनको अलग-अलग जाना जा सकता है। यदि उनको अलग-अलग नहीं जाना जा सकता होता तो हमने यह कैसे जाना कि उन प्रदेशों की संख्या असंख्य है, अनन्त नहीं ? वे सभी अखण्ड होने के साथ जुदे-जुदे भी हैं। यद्यपि वे जुदे हो नहीं सकते हैं, फिर भी वे ज्ञान में जुदे-जुदे जाने जाते हैं।

प्रदेश की तरह गुण भी जुदे नहीं हो सकते हैं; लेकिन वे भी जुदे-जुदे हैं। अलग-अलग नहीं होना – यह द्रव्य की पहचान है और अलग होना – यह पर्याय की पहचान है। विशेष को, गुण को, प्रदेश को, काल के खण्ड को – इन सभी को पर्याय कहते हैं।

क्षेत्र की अखण्डता को असंख्यप्रदेशी कहा जाता है। जब असंख्य प्रदेशी कहा जाता है, तब प्रदेश विशेषण बन जाते हैं अर्थात् असंख्य प्रदेशी एक अखण्ड वस्तु का बोध कराता है तथा जब असंख्य प्रदेश कहा जाता है, तब वह भेद का बोध कराता है।

यदि अनुभव में अलग-अलग प्रदेश ख्याल में आते हैं, तो आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्प की ही उत्पत्ति होगी; अनन्तगुण अलग-अलग ख्याल में आए तो भी आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्प की उत्पत्ति होगी; यदि अलग-अलग पर्यायें भी अनुभव में आती हैं, तब भी

आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्प की ही उत्पत्ति होगी।

जब क्षेत्रसंबंधी भेद का विकल्प, कालसंबंधी भेद का विकल्प, द्रव्यसंबंधी भेद का विकल्प और भावसंबंधी भेद का विकल्प – ये सभी विकल्प नहीं होते हैं, तब वह अनुभूति का काल है। उस समय जो द्रव्य दृष्टि का विषय बनता है; वही द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

यहाँ व्यतिरेक का अर्थ होता है विपरीत या पृथकता, भिन्न-भिन्नपना। जैसे अखण्डता का विपरीत खण्ड है अर्थात् अखण्डता का व्यतिरेक खण्ड है; उसीप्रकार वस्तु की समग्रता के व्यतिरेक को प्रदेश और परिणामों की समग्रता के व्यतिरेक को पर्याय कहा जाता है।

परिणामों की समग्रता के व्यतिरेक को पर्याय कहते हैं, लेकिन मात्र यह पर्याय पर्यायार्थिकनय के विषयवाली पर्याय नहीं है; क्योंकि पर्यायार्थिकनय के विषयवाली पर्याय में तो प्रदेशों का व्यतिरेक भी शामिल है, गुणों का व्यतिरेक भी शामिल है। जबकि इस पर्याय में मात्र काल का व्यतिरेक ही आता है।

समझने में परेशानी यह है कि दोनों का नाम ही पर्याय है, दोनों को ही पर्याय कहा जाता है।

अभी जो यह कहा था कि 'यदि विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक है और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है तो प्रदेशो और परिणामों का अन्वय अनुस्यूति से रचित विस्तार और प्रवाह; क्षेत्र और काल की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए।' तो यहाँ पर 'प्रदेशों का अन्वय' का तात्पर्य अनुस्यूति से रचित विस्तार है और 'परिणामों का अन्वय' का तात्पर्य अनुस्यूति से रचित प्रवाह है।

जिसप्रकार विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक है तो प्रदेशों का अन्वय क्षेत्र की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए; उसीप्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है तो परिणामों का अन्वय काल

की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए।

द्रस नयों में जो एक अन्वयद्रव्यार्थिकनय है, उस अन्वयद्रव्यार्थिकनय का विषय यही अन्वय है।

अन्वय द्रव्यार्थिकनय का विषय है और व्यतिरेक पर्यायार्थिकनय का विषय है तथा उस द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत अन्वय में गुणों का अन्वय, प्रदेशों का अन्वय और पर्यायों का अन्वय – सभी का अन्वय शामिल है, व्यतिरेक किसी का भी शामिल नहीं है। **दृष्टि के विषय में काल का अन्वय शामिल है, काल का व्यतिरेक शामिल नहीं है; भाव का अन्वय शामिल है, भाव का व्यतिरेक शामिल नहीं है; क्षेत्र का अन्वय शामिल है. क्षेत्र का व्यतिरेक शामिल नहीं है। यहाँ व्यतिरेक का अर्थ पृथकता है, भिन्न-भिन्नपना है।**

इस विषय को समझने के लिए चित्त की एकाग्रता की अत्यंत आवश्यकता है, इसके लिए चित्त का अन्वय आवश्यक है, यदि चित्त व्यतिरेकों में उलझा हुआ है तो विषय समझ में नहीं आएगा।

इसप्रकार यह अत्यंत स्पष्ट है कि प्रवाह की निरन्तरता को भी नित्यता कहते हैं; क्योंकि नित्यता और अनित्यता में काल की अपेक्षा ही मुख्य है। अत: नित्य का अर्थ; 'वस्तु की सदा उपस्थिति' मात्र इतना ही अभीष्ट नहीं है, अपितु उसमें प्रवाह की निरन्तरता भी सम्मिलित है। यह नित्यता ही काल की अखण्डता है, जो दृष्टि के विषयभूत द्रव्य का अभिन्न अंग है।[1]

काल की अपेक्षा वस्तु के नित्य और अनित्य – ये दो पक्ष होते हैं। जब हम वस्तु को नित्य कहते हैं तो उस नित्य का अर्थ हम यह समझते हैं कि 'जो हमेशा कायम रहे' उसका नाम नित्य है। 'कायम रहना' का अर्थ हम मात्र 'नहीं पलटना' ही ग्रहण करते हैं, संकुचित अर्थ में नित्य का यह अर्थ सही भी है, लेकिन व्यापक अर्थ में नित्य का अर्थ इससे अलग ही है।

१. समयसार अनुशीलन भाग -१, पृष्ठ - ७७

'अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक प्रत्येक द्रव्य प्रति समय पलटेगा, एक समय भी पलटे बिना रहेगा नहीं' – यह बात भी नित्य है; क्योंकि यदि यह बात अनित्य होती तो फिर द्रव्य कभी पलटता और कभी नहीं पलटता, जबकि ऐसा नहीं होता है। द्रव्य नित्य पलटता है। जब हम 'नित्य पलटता है' – यह कहते हैं तो हमें पलटने के साथ नित्यता का बैर-विरोध लगता है, जबकि इसमें बैर-विरोध नहीं है।

जैसा वस्तु का स्वभाव 'कभी नहीं पलटना है' वैसा ही वस्तु का स्वभाव 'प्रतिसमय पलटना' भी है। वस्तु का द्रव्यस्वभाव कभी नहीं पलटनेवाला है और वस्तु का पर्यायस्वभाव प्रतिसमय पलटनेवाला है। ये दोनों ही वस्तु के स्वभाव हैं। ऐसा नहीं है कि द्रव्यस्वभाव द्रव्य का स्वभाव है और पर्याय स्वभाव पर्याय का। ये दोनों ही वस्तु के नित्य स्वभाव हैं।

प्रश्न : फिर उसका पर्यायस्वभाव नाम क्यों रखा ?

उत्तर : पलटनेवाला स्वभाव होने से उसका पर्यायस्वभाव नाम रखा। पर्यायस्वभाव वस्तु का ही स्वभाव होने से द्रव्यस्वभाव ही है। पर्याय के बारे में, पर्याय की तरफ से कहा जाता है, इसलिए पर्यायस्वभाव कहा जाता है। पर्यायस्वभाव का तात्पर्य पर्याय का स्वभाव नहीं है। 'वस्तु में प्रतिसमय परिवर्तन होगा' यह बतानेवाला पर्यायस्वभाव है। यह पर्यायस्वभाव नित्य है, अनित्य नहीं।

जिसप्रकार द्रव्य का कभी भी नहीं पलटना स्वभाव है; उसीप्रकार द्रव्य का निरन्तर पलटना भी स्वभाव है।

प्रश्न : 'कभी नहीं पलटना' और 'निरन्तर पलटना' ये दोनों एकसाथ कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : इसके लिए समयसार गाथा ३०८ से ३११ की टीका का निम्न कथन द्रष्टव्य है –

"जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः।

प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।"

इन पंक्तियों में 'पलटना' और 'नहीं पलटना', ये दोनों बातें एक साथ कहीं हैं। जीव प्रतिसमय पलट रहा है, अनादिकाल से पलट रहा है एवं अनंतकाल तक पलटेगा, फिर भी वह पलट कर कभी अजीव नहीं होगा।

'एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है' – इसका नाम है कभी नहीं पलटना एवं अपने में निरन्तर परिवर्तन होने का नाम पलटना है।

भगवान आत्मा में अनंतगुण हैं व असंख्य प्रदेश हैं और उन अनंत गुणों में से कभी भी एक गुण कम नहीं होगा और असंख्य प्रदेशों में से कभी भी एक प्रदेश कम नहीं होगा। जिसप्रकार यह नित्यस्वभाव है; उसीप्रकार 'प्रत्येक गुण में प्रतिसमय परिणमन होगा' – यह भी नित्यस्वभाव ही है। मात्र 'नहीं पलटना' ही नित्यस्वभाव नहीं है; अपितु 'प्रतिसमय पलटना' भी नित्यस्वभाव है।

इसप्रकार नित्य में 'वस्तु की सदा उपस्थिति' मात्र इतना ही नहीं है, अपितु प्रवाह की निरन्तरंता भी शामिल है। यह नित्यता ही काल की अखण्डता है, जो दृष्टि के विषयभूत द्रव्य का अभिन्न अंग है।

द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है' – यह भाषा तो अधूरी है। पूरी भाषा तो यह है कि 'द्रव्यदृष्टि से द्रव्य (वस्तु) नित्य है और पर्यायदृष्टि से द्रव्य (वस्तु) अनित्य है।

नित्यता व अनित्यता का विशिष्ट अर्थ :

नित्यता का अर्थ 'वस्तु की सदा उपस्थिति' ही नहीं है, अपितु उसमें प्रवाह की निरन्तरता भी शामिल है; क्योंकि नित्यता और अनित्यता दोनों में काल की अपेक्षा है। नित्यता में भी काल की अपेक्षा

है और अनित्यता में भी काल की अपेक्षा है। वस्तु नित्य भी काल की अपेक्षा से है और अनित्य भी काल की अपेक्षा से है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में काल को पर्याय कहते हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय में पर्याय को काल कहा जाता है, भाव को गुण कहा जाता है और द्रव्य स्वयं वस्तु है; इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय में प्रदेशों को शामिल नहीं किया है।

जिसप्रकार गुणों में स्वभावभेद है, वैसा स्वभावभेद प्रदेशों में नहीं है। ज्ञान, दर्शन गुणों की भांति प्रदेशों में ऐसा कोई भेद नही हैं कि यह प्रदेश देखने का काम करेगा या यह प्रदेश जानने का काम करेगा।

नित्यतावाला काल का खण्ड दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में शामिल है और उस नित्यता में 'कभी नहीं पलटना' ही नहीं; अपितु 'निरन्तर पलटना' भी शामिल है।

यदि हम निरन्तर पलटने को अनित्यता कहकर द्रव्य में से निकालते हैं तो मात्र पर्याय ही नहीं निकलेगी; अपितु अनित्यत्व नाम का धर्म भी निकल जाएगा और यदि भगवान आत्मा में से एक धर्म या गुण भी बाहर निकलता है तो वह भगवान आत्मा भाव से खण्डित हो गया। यदि वस्तु में से अनित्यत्व को निकाला जाता है, तो पर्याय नहीं निकलेगी, अपितु अनित्यत्व नाम का धर्म ही निकल जाएगा; अत: यह काल संबंधी भूल नहीं है; अपितु भावसंबंधी भूल है; क्योंकि अनित्यत्व धर्म गुण है और गुण भाव को कहते हैं।

अनुस्यूति से रचित प्रवाह दो प्रकार का होता है, एक तो विस्तारक्रम वाला अनुस्यूति से रचित प्रवाह तथा दूसरा प्रवाहक्रमवाला अनुस्यूति से रचित प्रवाह। आत्मा में जो असंख्य प्रदेश हैं; वे बिखरकर कभी अलग-अलग नहीं होते हैं; क्योंकि उनमें अनुस्यूति से रचित एक प्रवाह है।

जिसप्रकार प्रदेशों में अनुस्यूति से रचित प्रवाह है; उसीप्रकार पर्यायों में भी अनुस्यूति से रचित प्रवाह है।

पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय – ये दोनों पृथक्-पृथक् होने पर भी इतनी मजबूती से जुड़ी हैं कि इनका जोड़ कोई मोतियों में पिरोए हुए सूत के समान नहीं है। जैसे मंदिरों में संगमरमर को ही खोद-खोदकर बनाई गई माला में जो मोती जुड़े होते हैं। वे किसी सीमेंट के मसाले से नहीं जुड़े होते हैं, अपितु वे अन्दर में उसी संगमरमर से जुड़े होते हैं। जो दो पर्यायें मजबूती से जुड़ी हैं, वे सूत में पिरोई गई माला के समान नहीं हैं; अपितु संगमरमर से बनी मोतियों की माला के समान हैं।

जिसप्रकार दो प्रदेश अलग-अलग होने पर भी मजबूती से जुड़े हुए हैं। उसीप्रकार दो पर्यायें भी अलग-अलग होने पर भी अन्दर से बहुत मजबूती से जुड़ी हुई हैं। जिसप्रकार दो प्रदेशों के बीच में कोई खाली जगह नहीं है; उसीप्रकार दो पर्यायों के बीच में भी कोई खाली जगह नहीं है।

डोरे में पिरोई गई जो मोतियों की माला है, उसमें दो मोतियों के बीच में खाली जगह है, किन्तु जो संगमरमर के मोती बनाए गए हैं, उनमें वे मोती किसी मसाले से नहीं जोड़े गए हैं। वे पर्यायें डोरी में पिरोए गए मोतियों के समान नहीं हैं; अपितु संगमरमर पर बनाई गई मोतियों की माला के समान हैं।

जिसप्रकार द्रव्य में दो प्रदेशों के बीच में क्षेत्र की अखण्डता है; उसीप्रकार दो पर्यायों के बीच में काल की अखण्डता है और उन प्रदेशों और पर्यायों में अनुस्यूति से रचित प्रवाह है। जो अनुस्यूति से रचित प्रवाह है, वह अन्वय है और वह अन्वय द्रव्य का लक्षण है तथा पर्यायों में जो परस्पर व्यतिरेकीपना है, वह पर्याय का लक्षण है।

पर्यायों के प्रवाह का नाम तो द्रव्य है। यदि अनुस्यूति से रचित प्रवाह को पर्याय मानकर द्रव्य से निकालते हैं तो मात्र पर्याय खण्डित नहीं होती है, अपितु द्रव्य खण्डित होता है। अनुस्यूति से रचित प्रवाह तो नित्यता का लक्षण है। यदि उस नित्यत्व नामक धर्म को निकालेंगे तो भगवान आत्मा भाव से खण्डित हो जाएगा। यदि द्रव्य में से अनुस्यूति से रचित प्रवाह को निकाला तो अन्वय

निकल जायेगा, जबकि निकालना (व्यतिरेक) पर्याय को है।

जैसे आजकल कई ऐसे जुड़वां बच्चे पैदा होते हैं, जिनके अंग जुड़े होते हैं, यदि उन्हें अलग-अलग किया जावे तो वे दोनों ही मर जायेंगे, जिन्दा नहीं रह पावेंगे; उसीप्रकार द्रव्य में दो पर्यायें ऐसी जुड़ी हैं कि उनके बीच में बिल्कुल खाली जगह नहीं है और वे इसप्रकार से जुड़ी हैं कि वे तीनलोक और तीनकाल में कभी भी अलग-अलग नहीं हो सकती हैं।

उन पर्यायों का अलग नहीं होना, उसका नाम अनुस्यूति से रचित प्रवाह है, वह अन्वय है तथा वह अन्वय दृष्टि के विषय में शामिल है।

'अनुस्यूति से रचित प्रवाह गुण है, पर्याय नहीं – यह बात समझना बहुत कठिन है और इससे भी ज्यादा कठिन इसे शब्दों में बांधना है।

दृष्टि के विषयभूत इस द्रव्य में सामान्य के रूप में द्रव्य, एक के रूप में अनंतगुणों का अखण्ड पिण्ड, अभेद के रूप में असंख्यप्रदेशों का अखण्डपिण्ड और नित्य के रूप में अनंतानंत पर्यायों का सामान्यांश – इन सभी को शामिल किया गया है।

अनन्तानन्त पर्यायों के सामान्यांश को ही 'वृत्ति का अनुस्यूति से रचित प्रवाह' कहा जाता है।

पर्यायों के प्रवाह से अलग कोई अन्य नित्य नहीं है। दृष्टि के विषय में इस नित्य का निषेध नहीं है। निषेध तो गुणभेद व प्रदेशभेद का है।

इसी संदर्भ में सातवीं गाथा पर पण्डित जयचन्दजी द्वारा लिखित भावार्थ में उठाये गये प्रश्न और दिए गये उत्तर का जो स्पष्टीकरण स्वामीजी ने किया है; वह भी द्रष्टव्य है –

प्रश्न : गुणभेदरूप पर्याय द्रव्य का ही अंश है, अवस्तु नहीं, परवस्तु नहीं। यहाँ अवस्तु का अर्थ परवस्तु है। जिसप्रकार शरीर परवस्तु है, कर्म परवस्तु है; भेदरूप पर्याय उसप्रकार की परवस्तु नहीं है। पर्याय तो स्वद्रव्य का ही अंश है, अत: निश्चय है; उसे व्यवहारनय कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर : "यद्यपि पर्याय वस्तु का ही भेद है, अवस्तु नहीं, परवस्तु नहीं; तथापि यहाँ पर्यायदृष्टि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराने का प्रयोजन होने से अभेद को मुख्य करके उपदेश दिया गया है। भेद को गौण करने पर ही अभेद भलीभांति प्रतिभासित होता है; इसलिए यहाँ भेद को गौण किया गया है। ध्यान रहे, यहाँ भेद को (भेदरूप व्यवहार को) गौण किया है, उसका अभाव नहीं किया गया है।

यहाँ अभिप्राय यह है कि भेददृष्टि में निर्विकल्पदशा नहीं होती, सम्यग्दर्शन नहीं होता; अपितु राग ही उत्पन्न होता है। अनंतगुणात्मक, अनंतधर्मात्मक भगवान आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनंतगुणों को लक्ष्य में लेने पर राग ही उत्पन्न होता है। नवतत्त्वों के भेद की बात तो दूर ही रहो, यदि गुण-गुणी का भेद भी खड़ा होगा तो निर्विकल्पदशा नहीं होगी। वस्तु और उसकी शक्तियाँ – ऐसा भेद भी दृष्टि का विषय नहीं बनता। दृष्टि का विषय तो अभेद, अखण्ड, एक ज्ञायकभाव ही है। दृष्टि स्वयं पर्याय है, वह भी दृष्टि के विषय में नहीं आती, वह भी ध्यान का ध्येय नहीं बनती।[1]"

इसप्रकार गुरुदेवश्री ने गुणभेद के संबंध में भी प्रवचनरत्नाकर में कहा है कि अनन्तगुणात्मक, अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनंतगुणों को लक्ष्य में लेने पर राग ही उत्पन्न होता है। नवतत्त्वों के भेद की बात तो दूर ही रहो, यदि गुण-गुणी का भेद भी खड़ा होगा तो निर्विकल्पदशा नहीं होगी। वस्तु और उसकी शक्तियाँ – ऐसा भेद भी दृष्टि का विषय नहीं बनता। दृष्टि का विषय तो अभेद, अखण्ड, एक ज्ञायकभाव ही है। दृष्टि स्वयं पर्याय है, वह भी दृष्टि के विषय में नहीं आती, वह भी ध्यान का ध्येय नहीं बनती।

दृष्टि के विषय में गुण का भेद, प्रदेश का भेद, काल का भेद – आदि कोई भी भेद शामिल नहीं है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १

छह द्रव्यों और सात तत्त्वों के संदर्भ में दृष्टि का विषय :

छह द्रव्यों के नाम का उल्लेख द्रव्यसंग्रह में दो द्रव्यों के रूप में भी आता है।

जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं, वंदे तं सव्वदा सिरसा॥[1]

इस गाथा में जीव और अजीव के रूप में दो द्रव्यों के नाम कहे हैं। छह द्रव्यों और दो द्रव्यों के कथनों में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये पाँच द्रव्य अजीव ही हैं।

द्रव्यव्यवस्था में या वस्तुव्यवस्था में तो छह द्रव्यों को दो द्रव्यों के रूप में कहा जा सकता है; लेकिन तत्त्वव्यवस्था के अन्तर्गत सात तत्त्वों को जीव-अजीव – इन दो तत्त्वों के रूप में नहीं कहा जा सकता है। इसीकारण तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी ने सात तत्त्वों में जीव, अजीव के बाद पृथक् से आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट होता है कि आस्रवादि तत्त्व अजीव में शामिल नहीं हैं। इसका कारण यह है कि द्रव्यों में जो पुद्गल द्रव्य हैं, वे अजीव ही हैं, इसलिए उनको अजीव में शामिल किया जा सकता है, किन्तु आस्रव मात्र अजीव ही नहीं है, उसमें पुद्गलरूप द्रव्यास्रव होने के साथ भावास्रव जीव का परिणाम भी है।

तत्त्वार्थसूत्र में छठवें अध्याय में **जीवाजीवाधिकरणं च** सूत्र है, इस सूत्र में यह कहा है कि आस्रव के दो अधिकरण हैं जीव और अजीव अर्थात् आस्रव के द्रव्यास्रव और भावास्रव – ये भेद न करके जीवास्रव और अजीवास्रव – ये दो भेद किए। ऐसे ही बंधादिक के भी जीवबंध, अजीवबंध, जीवसंवर, अजीवसंवर, जीवनिर्जरा, अजीवनिर्जरा और जीवमोक्ष, अजीवमोक्ष – ऐसे भेद हैं।

यदि आस्रवादिक जीव या अजीव में शामिल करना हो तो उनके उपर्युक्त प्रकार से भेद करने पड़ेंगे, तभी जीवास्रव को जीव में, अजीवास्रव को अजीव में, जीवबंध को जीव में एवं अजीवबंध को अजीव में शामिल कर सकेंगे। हम

१ द्रव्यसंग्रह · गाथा २

द्रव्यों की तरह तत्त्वों को बिना भेद किए अजीव में शामिल नहीं कर सकते।

तत्त्वव्यवस्था में सात तत्त्व इसलिए बन गए; क्योंकि आस्रवादिक पर्यायों में से जीव की पर्यायों को जीव में शामिल करना चाहिए और अजीव की पर्यायों को अजीव में शामिल करना चाहिए; लेकिन ये आस्रवादिक पर्यायें पर्यायार्थिकनय का विषय हैं, द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं हैं; अतः द्रव्यार्थिकनय का विषय अलग करने के लिए पर्यायों को अलग रखना चाहिए, इसीलिए आस्रवादिक पर्यायों को जीव-अजीव में शामिल न करते हुए तत्त्वव्यवस्था में आस्रवादिकतत्त्वों को अलग ही रखा।

यदि आस्रवादिक के जीवास्रव, अजीवास्रव भेद करके जीव-अजीव में शामिल करते हैं तो वह जीव दृष्टि का विषयभूत जीव नहीं रहेगा; जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; क्योंकि जीवास्रवादि को जीवतत्त्व में शामिल करने से राग और मिथ्यात्व भी शामिल होता है, पर्याय भी शामिल होती है; इसलिए दृष्टि के विषयभूत जीव में से इन सभी को अलग रखने के लिए आास्रवादिक जीव-अजीव से भिन्न तत्त्व कहे गये। इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत जीव-अजीव और आस्रवादिक से भी भिन्न है। यदि जीव को मात्र अजीव से भिन्न करते हैं तों अजीव में द्रव्यास्रवादिक ही शामिल है, भावास्रवादिक नहीं; **अतएव दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में से भावास्रवादिक को भी निकालने के लिए उसे आस्रवादिक से भी भिन्न कहा। दृष्टि का विषयभूत द्रव्य तो भावमोक्ष अर्थात् मोक्षपर्याय से भी भिन्न है; इसलिए मोक्ष को भी जीव में शामिल नहीं किया।**

जो अजीव और आस्रवादिक – इन सभी से भिन्न है – ऐसे जीव को दृष्टि का विषय बनाने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी। यह तत्त्वचर्चा अध्यात्म का अंग है और यहाँ द्रव्यचर्चा सिद्धान्त का अंग है। सभी पर्यायों को तत्त्वव्यवस्था में अलग स्थान मिला है।

तत्त्वव्यवस्था में जब पर्यायों को अर्थात् आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा

और मोक्ष को अलग-अलग तत्त्व कहकर जीव और अजीव से अलग कर दिया है तो फिर ये जीव और अजीव में क्यों शामिल होंगे ?

द्रव्यव्यवस्था में तो ये जीव और अजीव में ही शामिल होंगे; क्योंकि वहाँ इनकी कोई अलग व्यवस्था नहीं है; लेकिन तत्त्वव्यवस्था में इनके जीव-अजीव में शामिल होने की समस्या ही नहीं है; क्योंकि इन्हें पृथक् तत्त्व बना दिया है। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – इनमें जीव की सभी पर्यायें शामिल हैं। निगोद से लेकर मोक्ष तक जीव की समस्त विकारी और अविकारी पर्यायें इन आस्रवादिक तत्त्वों में शामिल हैं। इन आस्रवादिक के अलावा जीव की ऐसी कोई भी पर्याय नहीं है, जिसे हम जीव में शामिल करना चाहे। कहने का तात्पर्य यह है कि **समस्त विकारी और अविकारी पर्यायें आस्रवादिक पाँच तत्त्वों में ही शामिल हैं, जीव में शामिल नहीं हैं। समस्त विकारी और अविकारी पर्यायों से रहित जीवतत्त्व ही द्रव्यदृष्टि का विषय है। यही इस कथन का सार है।**

उक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह बात उभर कर सामने आती है कि दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में पर्यायार्थिकनय की विषयभूत सभी पर्यायों में से कोई भी पर्याय शामिल नहीं है। ध्यान रहे, पर्यायार्थिकनय के विषय में गुणभेद, प्रदेशभेद और कालभेद – ये सभी तो आते हैं; परन्तु पर्यायों का अनुस्यूति से रचित प्रवाह इस पर्यायार्थिकनय में नहीं आता है।

पर्यायों से पार भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्यायों की उत्पत्ति होती है; मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है, मोक्ष होता है इसी पर्यायों से पार भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन, इसे निज जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और इसमें ही जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है, शेष सब उपचार है।

सभी भव्यात्मा दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को जानकर, पहचानकर; उसी में जमकर-रमकर पर्याय में परमात्मपद प्राप्त कर सुखी हों – इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ। ❑

परिशिष्ट

लब्धि और उपयोग :

वर्तमान की एकसमय की ज्ञान की पर्याय में लब्धि और उपयोग – दोनों ही हैं। जिससमय द्रव्यदृष्टि का विषयभूत सामान्य, अभेद, नित्य और एकरूप भगवान आत्मा मुख्यरूप से जानने में आ रहा है; उसीसमय में पर्यायदृष्टि का विषय भी गौणपने जानने में आ रहा है। ऐसा नहीं है कि पर्यायदृष्टि का विषय जानने में ही न आ रहा हो। इसीलिए तो आचार्य अमृतचन्द्र ने श्रुतज्ञान का स्वरूप समझाने के लिए केवलज्ञान का उदाहरण दिया है।[1]

ये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – दोनों नय एक ही वस्तु में और एक ही काल में घटित होते हैं। जिससमय केवली भगवान (निश्चय से) अपनी आत्मा को जानते हैं, उसीसमय वे ही केवली भगवान (व्यवहार से) लोकालोक को जानते हैं।

यद्यपि केवली के ज्ञान में मुख्य-गौण रहता ही नहीं है, उनके केवल ज्ञान में तो निश्चय-व्यवहार हमने अपने ओर से लगाये हैं। केवली भगवान का पर को जानना व्यवहार है और स्व को जानना निश्चय है। यह भेद तो हमने अपने ज्ञान में लगाया है, उनके ज्ञान में तो नय होते ही नहीं हैं।

तन्मय और एकाकार का अर्थ :

केवली भगवान परपदार्थों को तन्मय होकर नहीं जानते। यहाँ 'तन्मय' का अर्थ उपयोग की एकाग्रता नहीं है; जबकि लोक में तन्मय का अर्थ उपयोग की एकाग्रता किया जाता है।

यहाँ ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मा में 'यही मैं हूँ' – ऐसी श्रद्धा का नाम तन्मय होना है और पर के प्रति ऐसी प्रतीतिपूर्वक जानना कि 'यह मैं नहीं हूँ' – इसका नाम अतन्मय होना है।

अपनी आत्मा को 'यह मैं हूँ' ऐसा जानने को एकाकार कहते हैं। यह भी श्रद्धागुण की परिणति है, जो ज्ञानमुख से प्रगट है। एकाकार का अर्थ भी उपयोग की एकाग्रता नहीं है।

चूंकि केवली पूर्णज्ञानी हैं, अत: उनके केवलज्ञान में श्रद्धा और जानने का भेद करके कथन करना संभव नहीं है। इसकारण वहाँ ज्ञानमुख से श्रद्धा का कथन किया गया है – ऐसा समझना चाहिए। अन्यत्र भी श्रद्धा के विषय का ज्ञानमुख से कथन करने में आये तो उसका आशय श्रद्धा ही करना चाहिए।

यह तो स्पष्ट ही है कि यहाँ उपयोग की एकाग्रता होना 'तन्मय' होने के अर्थ में नहीं है। तन् + मय अर्थात् 'मैं यही हूँ' – ऐसी प्रतीति होना तन्मय होना है।

अनुभूति और अनुभव :

अनुभूति के काल में जो आत्मानुभव प्रगट होता है, मात्र उसी का नाम अनुभव नहीं है। अनुभूति के काल में भगवान आत्मा के दर्शन के साथ उसमें जो एकत्व स्थापित हुआ, आत्मा में अपनेपने का भाव प्रगट हुआ, वह एकत्व या अपनापन जबतक कायम रहेगा, तबतक अनुभव रहेगा।

यद्यपि आत्मानुभूति उस समय नहीं रहेगी; फिर भी अनुभव कायम रहेगा।

द्रव्य से सामान्य है अर नित्य है जो काल से।
अभेद है जो क्षेत्र से अर एक है जो भाव से॥
अखण्ड है द्रव क्षेत्र से अर काल एवं भाव से।
द्रवदृष्टि कर इसमें रमूँ नित मैं स्वयं ही चाव से॥

– दृष्टि का विषय

द्रव्यदृष्टि में प्रयोजनभूत निश्चय-व्यवहारनय

वस्तुत: तो निश्चयनय एक ही है; परन्तु प्रयोजनवश इसके चार भेद किये गये हैं । मूल में तो दो भेद ही किये हैं। एक-शुद्धनिश्चयनय , दूसरा-अशुद्धनिश्चयनय। पुन: शुद्ध निश्चयनय के तीन भेद किये। १. परमशुद्धनिश्चयनय २. साक्षात्शुद्धनिश्चयनय ३. एकदेशशुद्ध निश्चयनय। इसप्रकार इसके निम्नांकित चार भेद हो गये।

(क) परमशुद्धनिश्चयनय - इसका विषय पर व पर्याय से रहित अभेद-अखण्ड-नित्य वस्तु है। अत: इसका कोई भेद नहीं होता। इस नय की विषय वस्तु ही दृष्टि का विषय है।

(ख) साक्षात्शुद्धनिश्चयनय - यह नय आत्मा को क्षायिक भावों से, (केवल-ज्ञानादि से) सहित बताता है। ध्यान रहे, इस दूसरे भेद का एक नाम शुद्धनिश्चयनय भी है, जो मूलनय के नाम से मिलता-जुलता है, अत: अर्थ समझने में सावधानी रखें।

(ग) एकदेशशुद्धनिश्चयनय - इस नय से मतिश्रुतज्ञानादिपर्यायों को जीव का कहा है। जैसे - मतिश्रुतमानी जीव।

(घ) अशुद्धनिश्चयनय- यह नय आत्मा को रागादि विकारीभावों से सहित होने से रागी-द्वेषी-क्रोधी -ज्ञानी आदि कहता है।

ज्ञातव्य है कि कहीं-कहीं शुद्धनिश्चयनय के तीनों भेदों को प्रयोग समुदायरूप में भी हुआ है। है। परमशुद्धनिश्चय के अलावा तीनों का व्यवहारनय के रूप में भी प्रयोग किया है। अत: अर्थ समझने में सावधानी की जरूरत है। एतदर्थ नयचक्र का अध्ययन करें।

व्यवहारनय का कार्य एक अखण्ड वस्तु में, गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायवान में भेद करके तथा देह व जीव आदि दो भिन्न द्रव्यों में अभेद करके वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है।

व्यवहारनय के मूलत: चार भेद हैं:-

१. **उपचरित असद्भूत व्यवहारनय** - इस नय से संश्लेश समबन्धरहित परद्रव्य स्त्री-पुत्र, परिवार एवं धनादि को अपना कहा जाता है। इसे न मानने से स्वस्त्री-परस्त्री का विवेक नहीं रहेगा, निजघर-परघर, निजधन-परायाधन आदि का व्यवहार संभव न होने से नैतिकता का ह्रास होगा। लोक व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी।

२. **अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय** - इस नय से संश्लेश सम्बन्ध सहित देह को ही जीव कहा जाता है, जिसे न मानने से द्रव्यहिंसा से बचाव नहीं हो सकेगा। अर्थात् राख/कोयला मसलना और पंचेन्द्रिय जीव का गला दबाना एक समान हो जायेगा।

३. **उपचरित सद्भूत व्यवहारनय** - यह नय विकार एवं गुण-गुणी में भेद करके उन्हें जीव कहता है। जैसे- राग का कर्त्ता जीव, क्रोध का कर्त्ता जीव । इसे न मानें तो संसारी व सिद्ध में भेद नहीं रहने से चरणानुयोग व करणानुयोग के विषय का क्या होग ?

४. **अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय** - पर्याय- पर्यायवान् गुण-गुणी में भेद करता। जैसे -आत्मा में केवलज्ञान आदि अनन्त गुण एवं शक्तियाँ। इसे न मानने से स्वभाव की सामर्थ्य का ज्ञान नहीं होगा।